

अनवरत् चिन्तन.....

दो शब्द

सामयिक विषयों पर अपने विचार और प्रतिक्रिया के रूप में मेरे द्वारा जिन लेखों की रचना की गई और जो समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए, वे इस लेखमाला के रूप में सहर्ष प्रस्तुत हैं। मेरा ऐसा अभिमत है कि एक जागरूक नागरिक के रूप में हमें समाज के चिन्तन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वहन करना है। यह स्वाभाविक है कि हमारे विचारों में एकरूपता नहीं हो सकती क्योंकि हम विभिन्न आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आते हैं और अनेक बार अपने पूर्व अनुभवों के चलते पूर्वाग्रहों से ग्रसित रहते हैं, लेकिन विचार अभिव्यक्ति और विचारमंथन निश्चिततः समाजकल्याण एवं सहअस्तित्व रूपी अमृत को खोजने का सार्थक प्रयास है, जो अनवरत् रूप से चलना चाहिए। जागृत समाज ही जीवंत देश की पहचान है।

इस लेखमाला के प्रस्तुतिकरण का उद्देश्य यही है कि प्रासंगिक विषयों पर एक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सके। विचार अभिव्यक्ति में कहीं कोई कमी हो, तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। आपके सुझावों व आलोचना का सहृदय स्वागत है।

के.सी. जैन

एम.ए., एलएल.बी.

ईमेल: kishanjain@gmail.com

वैबसाइट: www.kcjain.in

स्थान: आगरा

दिनांक: 9.7.2013

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	शीर्षक	पृष्ठ सं.
1.	शहर को ताज जैसा सुन्दर बनायें	3-4
2.	भूमि अधिग्रहण : विसंगतियाँ	5-6
3.	सामूहिक सहभागिता से होगा सुधार	7-8
4.	शहरों का अनियन्त्रित विकास	9-10
5.	समाधिमरण नहीं है आत्महत्या	11
6.	उपेक्षित न्यायपालिका	12-13
7.	बिन पानी सब सून	14-15
8.	वाह ताज आह आगरा	16-17
9.	व्यवहारिक हो भूमि अधिग्रहण नीति	18-19
10.	कमजोर होती विवाह संस्था की नींव	20-21
11.	चुनाव कानून बदलने होंगे	22-23
12.	जागो उपभोक्ता जागो	24-25
13.	सोनू की मौत का उत्तरदायी कौन ?	26-27
14.	नया किरायेदारी कानून बने	28-29
15.	कहीं दिवास्वप्न न रह जाये	30-31
16.	खण्डपीठ की राह ताकता आगरा	32-33
17.	सूचना अधिकार कानून का चौथा पड़ाव	34-36
18.	महिलाओं पर हिंसा कब तक ?	37-38
19.	चहुं ओर मानवाधिकार उपेक्षित	39-40
20.	कठिन होता शहरी जीवन	41-42
21.	शहरों में बढ़ती गंदगी	43-44
22.	उपेक्षित सांस्कृतिक धरोहरें	45-46
23.	प्रभावी कदम है नया अपार्टमेंट कानून	47-48
24.	संवेदनशील बनें — पर्यावरण बचायें	49
25.	लोकतंत्र है या अफसरतंत्र	50-51
26.	इण्टरनेट अपनाएँ — वृक्ष बचायें	52
27.	नौकरशाही की बुनियाद बदलनी होगी	53-54
28.	क्षमावान व सरल बनें	55

क्र.सं.	शीर्षक	पृष्ठ सं०
29.	संवेदनहीन केन्द्र से खण्डपीठ स्थापना की आस	56-57
30.	संवेदना से परे राजनैतिक नेतृत्व	58-59
31.	महिलाओं को अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी होगी	60-61
32.	संशोधित हो भूमि अधिग्रहण कानून	62-63
33.	पर्यावरण के प्रति संवेदनहीनता	64-65
34.	आ सकती है पानी की भी आफत	66-67
35.	निजी क्षेत्र को दो सुधार की चाबी	68-69
36.	सूचनाधिकार का छठा पड़ाव	70-71
37.	पर्यटन नीति सुधारनी होगी	72-73
38.	कैसे हो कानून का ज्ञान	74-75
39.	आत्मावलोकन का समय	76-77
40.	संवेदनाओं को सींचें	78-79
41.	जनहित कानून का लाभ लें	80-81
42.	निकाय चुनाव-2012 में आरक्षण का विवाद	82-83
43.	भूमि अधिग्रहण के विकल्प ढूंढने होंगे	84-85
44.	कठोर सजा से समाधान नहीं होगा	86-87
45.	दृढ़ता से लागू हों औद्योगिक नीतियाँ	88-89
46.	प्रकृति के प्रति संवेदनशील हों	90-91

शहर को ताज जैसा सुन्दर बनाएँ

आगरा को हमें ताज जितना सुंदर बनाना है तो अपने कार्य प्रणाली और मानस दोनों को ही बदलना होगा। जन सहभागिता उसकी सबसे पहली आवश्यकता है। प्रशासनिक तथा शासन के स्तर पर जो भी निर्णय हों, उसकी प्रक्रिया में जन सहभागिता हो ताकि जनता की अपेक्षाओं को योजनाएँ प्रतिबिंबित कर सकें तथा जनता को यह लगे कि योजनाएँ उनकी हैं, जिन्हें सफल करने का दायित्व भी उन्हीं का है।

दूसरा है मण्डलायुक्त की अध्यक्षता में विकास समिति का गठन। आगरा में अनेक एजेन्सियाँ विकास कार्य कर रही हैं। इनमें आगरा विकास प्राधिकरण, नगर निगम, जल निगम, यमुना एक्शन प्लान और जेएनएनयूआरएम हैं, पर इनमें आपसी समन्वय व तालमेल की कमी है। योजनाएँ एक-दूसरे से विरोधी लगती हैं जिनके समन्वय के लिए सबसे जरूरी है कि एक विकास समिति का गठन हो जिसके अध्यक्ष मंडलायुक्त हों और उसकी स्वीकृति के उपरांत ही आगरा में विभिन्न एजेंसियाँ कार्य करें ताकि पब्लिक मनी का भी वेस्टेज न हो, तभी समग्र विकास हो सकेगा और तस्वीर बदल सकेगी।

साथ ही मुख्य सचिव की अध्यक्षता में पर्यटन प्राधिकरण का गठन होना चाहिए ताकि शासन स्तर पर विभिन्न विभागों के विभागाध्यक्षों के साथ बैठकर निर्णय हो सके और ढंग से योजनाएँ कार्यान्वित हो सकें व शासन स्तर की स्वीकृतियाँ भी मिल सकें। पर्यटन व्यवसाय पर मुख्य फोकस रखना होगा। आगरा शहर को ताज जैसा सुन्दर बनाने के लिए हमें पर्यटन व्यवसाय को इसकी लाइफ लाइन बनानी होगी। पर्यटन व्यवसाय के लिए आवश्यक बुनियादी सुविधाओं का सृजन करना होगा। अच्छी सफाई, अच्छी पुलिसिंग चाहिए। होटल व पर्यटन व्यवसाय से जुड़ी हुई सुविधाओं के लिए भूमि को भी उपलब्ध करना होगा। ऐतिहासिक इमारतों को आपस में जोड़ने के लिए शटल सर्विस चाहिए तथा वह सब कुछ करना होगा जो हमारे पर्यटन को मजबूत करे। फ्रांस में 7.5 करोड़, चीन में 4.17 करोड़, इंग्लैंड में 2.77 करोड़, थाईलैंड में 1.16 करोड़ और मलेशिया में 1.57 करोड़ पर्यटक आते हैं। जबकि आगरा में इन पर्यटकों की संख्या 25-30 लाख ही है। क्या ताजमहल होते हुए भी हम फ्रांस और चीन के बराबर पर्यटकों को आगरा आकर्षित नहीं कर सकते हैं? यह हमारी मार्केटिंग की कमी है। मथुरा में प्रतिवर्ष लगभग 63 लाख पर्यटक आते हैं और आगरा के पर्यटकों की संख्या उससे भी कम है। हमें आगरा के पर्यटन की मार्केटिंग के लिए अच्छी पीआर एजेंसी को लगाना होगा, जो वर्ष भर के कार्यक्रमों को दुनिया भर में प्रचारित प्रसारित करे।

इसके अलावा म्युनिसिपल टैक्सेज देने का मानस बनाना होगा। नगर निगम को करों की उचित अदायगी करनी होगी और अपने अधिकारों के लिए जागरूक रहकर नागरिक सुविधाएँ प्राप्त करनी होंगी। जब तक हम करों को देने की मानसिकता नहीं बनाएंगे, तब तक नगर निगम के पास संसाधनों की कमी रहेगी।

नालों का गंदा पानी यमुना नदी को प्रदूषित कर रहा है, जिसको लेकर हम सभी चिन्तित हैं। प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष कम से कम 50 हजार लीटर पानी खर्च करता है जो नालियों और नालों के माध्यम से यमुना पहुंचता है। पूरे शहरों के नालों का पानी देखा जाए तो वह करोड़ों लीटर हो जाता है। यदि हम इस पानी को री-साईकिल कर शहर को हरा-भरा बना दें तो शहर की तस्वीर बदल जाएगी। पालीवाल पार्क, शाहजहाँ गार्डन, सुभाष पार्क जैसे अनेक पार्क हरे-भरे हो जायेंगे और भूगर्भीय जल का स्तर नहीं घटेगा। साथ ही आगरा विकास प्राधिकरण को नोडल एजेन्सी का कार्य करना चाहिए और सशक्त नागरिक फोरम बनाना चाहिए, जिससे आगरा के प्रबुद्ध नागरिक एक कॉमन प्लेटफार्म पर आएँ और शासन और प्रशासन के साथ मिलकर अपने शहर को ताज जितना सुंदर बनाएँ।

(दि० 9.2.2008 को 'कॉमैक्ट' में प्रकाशित)

भूमि अधिग्रहण : विसंगतियाँ

भूमि अधिग्रहण के विरोध में देश भर से आंदोलन और हिंसा के समाचार प्रायः आते रहते हैं। 'जल, जंगल और जमीन' की अभी हाल की जनादेश यात्रा समाचार पत्रों की सुखियों में रही है। केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 का जिस प्रकार से मनमाना उपयोग किया है, उससे किसानों और भू-धारकों के हितों पर गंभीर कुठाराघात हुआ है। 'जन प्रयोजन' के नाम पर जमीनों का लिया जाना, मुआवजे के नाम पर बहुत थोड़ी धनराशि देना और बाद की जमीनों को मनमानी दरों पर नीलामी से बेचकर विकास प्राधिकरणों और हाउसिंग बोर्डों ने जिस प्रकार बड़ी राशि इकट्ठी की है, वह इसका स्पष्ट प्रमाण है कि सरकार द्वारा भूमि का अधिग्रहण निजी हितों का विरोधी सिद्ध हुआ है।

इस पृष्ठभूमि में 113 वर्ष पूर्व ब्रिटिश सरकार द्वारा जो भूमि अध्याप्ति अधिनियम बनाया गया था, उसको संशोधित करने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा संसद में दिसंबर, 2007 में विधेयक प्रस्तुत किया गया है, जो स्वागतयोग्य कदम है। विधेयक को ग्रामीण विकास की स्थायी संसदीय समिति को संदर्भित कर दिया गया है जिसके समक्ष अब यह विचाराधीन है।

विधेयक के अनेक प्राविधान प्रासंगिक और सामयिक हैं। वे विसंगतियों को कुछ सीमा तक दूर कर सकेंगे, तथापि विधेयक के अनेक ऐसे पक्ष हैं, जिन पर केन्द्र सरकार के द्वारा पुनर्विचार आवश्यक है। विधेयक में भूमि के अनिवार्य अर्जन के लिए दी जाने वाली सांत्वना की राशि 60 प्रतिशत प्रस्तावित है। सभी जानते हैं कि विक्रय पत्रों में अधिकतम 50 प्रतिशत मूल्य ही दर्शाया जाता है, जिसका उल्लेख विश्व बैंक की रिपोर्ट सितंबर, 2004 में भी है। अतः विक्रय पत्रों के आधार पर जब प्रतिकर की गणना की जाती है तो वह वास्तविक मूल्य का आधा ही होता है। अतः यह सांत्वना राशि 100 प्रतिशत होनी चाहिए। केन्द्र सरकार द्वारा विधेयक के पूर्व प्रारूप में ऐसी ही व्यवस्था थी। भू-स्वामियों की भूमि को उनकी इच्छा के विपरीत सरकार लेना चाहती है, तो पयाप्त अतिरिक्त राशि देनी होगी। इसके अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता नहीं है तभी जनविरोध नहीं होगा और अर्जन संभव हो सकेगा।

विधेयक में यह प्रस्ताव है कि प्रतिकर का निर्धारण स्टाम्प अधिनियम के अंतर्गत निर्धारित न्यूनतम अथवा विगत तीन वर्षों के विक्रय पत्रों का औसत मूल्य अथवा प्रोजेक्ट के लिए क्रय की गयी भूमि का औसत मूल्य, इसमें जो भी अधिकतम होगा, वह दिया जायेगा। यह व्यवस्था उचित नहीं है। प्रस्तावित व्यवस्था में भूमि के 'बाजार मूल्य' को आधार नहीं बनाया गया है, जबकि विश्व भर में इसे श्रेष्ठतम आधार माना गया है। न्यायालयों द्वारा 'बाजार मूल्य' के लिए विस्तृत एवं सुस्पष्ट सिद्धांत बनाये गये हैं, जिन्हें अनदेखा करना और कृत्रिम आधारों पर प्रतिकर का निर्धारण कहाँ तक न्यायसंगत होगा? प्रतिकर निर्धारण के सिद्धांत में कृत्रिमता कम से कम होनी चाहिए उसमें लचीलापन होना चाहिए। भू-स्वामियों को उनकी भूमि का उचित प्रतिकर दिया जाए, केन्द्र सरकार की ऐसी मंशा यह विधेयक पूरी नहीं करता है। 'बाजार मूल्य' को प्रस्तावित 3 सिद्धांतों के साथ-साथ बनाये रखना चाहिए अन्यथा वर्तमान स्थिति और खराब होगी।

प्रश्नगत विधेयक का लाभ क्या सभी भू-धारकों को मिल सकेगा? उत्तर प्रदेश व अनेक राज्य सरकारों के द्वारा अपने-अपने कानून बनाकर भूमि अधिग्रहीत की जा रही है किन्तु ऐसे कानूनों द्वारा वह समस्त लाभ भू-धारकों को नहीं दिये जा रहे हैं जो कि केन्द्र सरकार के भूमि अध्याप्ति अधिनियम, 1894 के अंतर्गत दिये जाते हैं। जब भूमि को आवास एवं विकास परिषद् के लिए परिषद् अधिनियम के अंतर्गत अर्जित किया जाता है तो धारा-6 की विज्ञप्ति की एक वर्ष की अथवा अवार्ड की दो वर्ष की समयावधि लागू नहीं होती है। भूमि का अर्जन 10-15 वर्ष तक लटका रहता है, जिससे भू-धारक शोषित होते हैं।

भूमि अधिग्रहण का विषय संविधान की समवर्ती सूची में है, जिसके कारण संसद को उस पर कानून बनाने का पहला अधिकार है (अनुच्छेद-254)। अतः विधेयक में केन्द्र सरकार को यह स्पष्ट प्राविधान करना चाहिए कि राज्य विधान मंडलों द्वारा बनाये गये कानूनों के ऊपर संसद का भूमि अधिग्रहण कानून प्रभावी होगा। तभी भूमि अधिग्रहण के मामलों में समानता आ सकेगी। अधिनियम की धारा 18 में संशोधन भी प्रस्तावित है किन्तु उसका दायरा बढ़ाना होगा। प्रतिकर वृद्धि के महत्वपूर्ण प्राविधानों (धारा 18 व धारा 28ए) के अंतर्गत प्रार्थना पत्रों में यदि एक वर्ष से भी अधिक पर्याप्त कारणवश देरी है, तो उसे भी जिलाधिकारी अथवा न्यायालय द्वारा क्षमा किया जाना चाहिए। ऐसा संशोधन कानूनी जटिलताओं को कम करेगा। अध्याप्ति निकाय द्वारा अपनी आवश्यकता से कहीं अधिक भूमि को अर्जित किया जाता है, जिसके कारण 20-25 वर्षों तक वह अनुपयोगी बनी रहती है। कृषि भूमियों का अंधाधुंध अर्जन भी हो रहा है। इन सब पर रोक लगाने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा वर्ष 1963 में कंपनियों के लिए जो नियमावली बनायी गयी थी (विशेष कर नियम-4) उसके अनुरूप विधेयक में प्राविधान करना होगा ताकि आवश्यकता से अधिक भूमि से तथा कृषि भूमि के अर्जन पर प्रभावी रोक लग सके।

भूमि को आपसी सहमति के आधार पर लिये जाने की अधिकतम संभावनाओं को बनाने के लिए भी विधेयक में सकारात्मक परिवर्तन करने चाहिए। वैल्युअर्स व जन प्रतिनिधियों को भी हर स्तर पर सम्मिलित करने से जन सहभागिता सुनिश्चित होगी। प्रक्रिया को और अधिक पारदर्शी बनाना होगा। निश्चित समयावधि में भूमि का उपयोग न होने पर भूमि की वापसी भू-स्वामियों को ही होनी चाहिए। कानून की तकनीकियों को समाप्त कर उन्हें सरल बनाना होगा। हर मामले में सरकार की उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय जाने की प्रवृत्ति पर भी अंकुश लगाना होगा।

आवश्यकता इस बात की है कि भूमि अध्याप्ति अधिनियम की अनेक विसंगतियों के संबंध में विस्तार से राष्ट्रव्यापी सार्थक बहस हो ताकि निजी भूमि के अर्जन एवं राष्ट्र की प्रगति के मध्य एक 'संतुलन' बनाया जा सके, भूमि का अर्जन 'मानवीय चेहरे' के साथ संभव हो और यह कानून शोषण का यंत्र बनने के स्थान पर राष्ट्र की प्रगति के लिए विधिक व न्यायपूर्ण आधार प्रदान कर सके।

सामूहिक सहभागिता से होगा सुधार

लोकतंत्र की नींव का पत्थर है जागरूक नागरिक — जागरूकता अपने अधिकारों के प्रति और कर्तव्यों के निर्वाहन के प्रति। हमारा नजरिया प्रायः स्वकेन्द्रित है। समस्या अपनी होती है तो उसके लिए भरसक प्रयास करते हैं किन्तु जब समस्या सामूहिक होती है, हम सक्रिय नहीं होते हैं। हमारे करने से क्या होगा व बहुत लोग प्रभावित हैं और वे समस्या का समाधान ढूँढ लेंगे। हमारी ऐसी सोच और रवैया आखिर कहाँ तक उचित है? हम सामूहिक समस्या के लिए क्यों न संगठित होकर प्रयास करते हैं? संघर्ष वृत्ति को बढ़ाना होगा। अपने हानि-लाभ से उठकर सोचना होगा।

व्यक्तिगत प्रयास से जन समस्या का समाधान प्रायः संभव न हो। अतः एक सी विचारधारा वाले व्यक्ति मिलें, प्रेशर ग्रुप्स बनायें, जन समस्या के समाधान की उचित कार्ययोजना बनायें और आगे बढ़ें। कानून को अपने हाथ में लें, यह भी उचित नहीं। जरूरी है कि समस्याओं का समाधान कानूनी परिधि में रहकर ढूँढें। हाँ, गांधीगिरी को तो जरूर अपनाया जा सकता है।

प्रश्न है कि अपने मताधिकार का प्रयोग हम कितनी कर्तव्यनिष्ठा के साथ करते हैं? कुल मतों के 45 प्रतिशत से सरकार को चुनते हैं। दिये गए मतों में से केवल 30.45 प्रतिशत वोटों का आधार पर अर्थात् कुल मतों के 14 प्रतिशत के आधार पर उत्तर प्रदेश में सरकार बनाते हैं। यदि देखें कि हमारी सरकार प्रति 100 व्यक्तियों में से 14 व्यक्तियों के मतों से ही बन जाती है जो 'बहुमत' की सरकार कहलाती है। यह स्थिति कमोवेश सभी प्रदेश सरकारों की ही है।

उत्तर प्रदेश की 403 सदस्यीय विधानसभा का स्वरूप भी देखें, तो उसमें भाजपा के 19, बसपा के 71, कांग्रेस के 9, रालोद के 5, सपा के 48 व अन्य 8 यानी कुल 160 विधायकों के विरुद्ध आपराधिक मुकदमें दर्ज हैं। ऐसे व्यक्तियों को अपने जन प्रतिनिधि के रूप में चुनकर भेजते हैं। क्या हम अपने मताधिकार का विवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग नहीं कर सकते हैं?

संसद की स्थिति भी देखें तो वर्ष 1952 से 1961 के मध्य लोकसभा प्रति वर्ष 124 दिन चली जबकि वर्ष 1992 से 2001 के बीच प्रति वर्ष कुल 81 दिन चली। पिछले वर्षों में भी लोकसभा के कार्यशील दिवस बहुत कम रहे। ऐसे में क्यों न हम सब लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए मताधिकार का सम्यक् उपयोग करें व शिक्षित, ईमानदार और समर्पित सांसदों और विधायकों को चुनें। इस पूरे मामले में सामाजिक संगठनों की भूमिका अग्रणी हो सकती है। लेकिन अधिकांश एनजीओ का रिकॉर्ड खराब सिद्ध हुआ है। आगरा एक्शन प्लान में भी एनजीओ की भूमिका विवादास्पद रही। सूचना अधिकार का सम्यक् उपयोग भी लड़ाई के लिए करना होगा। इसके लिए प्रशिक्षित स्वयंसेवक तैयार करने होंगे जो हर स्तर पर पैरवी करें।

समस्याओं से जूझने के लिए हमें जानना होगा कि विभागीय नीति क्या है, शासनादेश क्या है, विकास के कार्य विभिन्न विभाग क्या-क्या कर रहे हैं, इन विषयों की हमें पूरी जानकारी होनी चाहिए। मीडिया भी सहयोगी हो सकता है।

गिरता हुआ भूगर्भीय जल स्तर, प्रदूषित होती नदियां, कम हरियाली और वायु प्रदूषण हम सबको प्रभावित कर रहे हैं। पूर्वजों से हमें जो अच्छा मिला है, क्या उससे खराब हम अपने उत्तराधिकारियों को देना चाहते हैं। इसका चिंतन भी करना होगा और सुधार के लिए कारगर उपाय अपनाने होंगे। कन्या भ्रूण हत्याएं भी सामाजिक चिंता का विषय है, लेकिन हम उदासीन बने हुए हैं। सामाजिक बुराईयों के प्रति हमें सचेत होना होगा।

आइये हम सब निश्चय करें कि हम जागरूक व सक्रिय नागरिक बनेंगे और अपने दायित्वों का निर्वहन कुशलतापूर्वक करेंगे।

(दि० 10.3.2008 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

शहरों का अनियंत्रित विकास

वर्तमान में शहरों का विकास अनेक विसंगतियों और चुनौतियों से घिरा हुआ है। विशेष रूप से देश के टीयर 2 व टीयर 3 के शहरों में विकास प्रायः अनियंत्रित व अनियोजित है। वहाँ के प्राधिकरणों द्वारा जो महायोजना व परिक्षेत्रीय योजनायें बनाई जाती हैं, वे सामान्यतः जन अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं होती हैं और उनका उल्लंघन आम बात है। गौर से देखा जाये तो आज की स्थिति में अनाधिकृत निर्माण लाभ का सौदा हो गये है। आवासीय क्षेत्र में व्यवसायीकरण लोगों के जीवन को कठिन बनाये हुये है। नगरों के मुख्य कॉरीडोर विकृत विकास के स्पष्ट प्रमाण है। प्राधिकरणों के प्रवर्तन विभाग अनाधिकृत निर्माणों के विरुद्ध नोटिस जारी करने की औपचारिकता भर पूर्ण करते हैं।

प्राधिकरणों तथा स्थानीय निकायों का शहरों के इन्फ्रास्ट्रक्चर को सृजित करने या उसके सुदृढीकरण की ओर ध्यान ही नहीं है। शहरों में न अच्छी और चौड़ी सड़कें हैं, न पर्याप्त नाले हैं, सीवर लाइनें या तो हैं ही नहीं और यदि हैं, तो वे उफनती रहती हैं। आगरा शहर में लगभग 18 प्रतिशत क्षेत्र ही सीवर सहित हैं। इन्फ्रास्ट्रक्चर के सृजन की जो भी योजनायें बनाई जाती हैं, वह समग्र व एकीकृत नहीं होती हैं। शहरों की नदियाँ नालों से निरन्तर प्रदूषित हो रही हैं, चाहे वह जनश्रद्धा की स्रोत कालिन्दी हो या जीवनदायिनी गंगा। यमुना तथा गंगा एक्शन प्लान अभी तक कारगर नहीं हुये है। शहरों में हरियाली भी कम है और भू-गर्भीय जल का स्तर निरन्तर गिर रहा है। मलिन बस्तियों की संख्या बढ़ रही है। जनगणना 2001 के अनुसार 6.18 करोड़ व्यक्ति शहरी क्षेत्रों में झुगियों में रहते हैं। शहरों में बढ़ती भीड़ और ट्रेफिक जाम सामान्य बात हो गयी है। शहरों के पुराने भागों को तो छोड़ ही दें, नये विस्तार में भी अच्छी प्लानिंग, चौड़ी सड़कों और इन्फ्रास्ट्रक्चर का पूर्ण अभाव है। शहरों में 'क्वालिटी लिविंग' का स्वप्न अभी बहुत दूर है। शहरी भूमि के मूल्यों में तेजी भी शासन व प्रशासन भूमि के प्रबन्धन की नीति की असफलता को प्रमाणित करती है। दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले शहरों की स्थिति भी चिंता का विषय है जो वर्ष 1981 में 12 थे और 2001 में 37 हो गये। बड़े शहरों में इस प्रकार विस्फोटक रूप से जनसंख्या वृद्धि हुई है जिसने वहाँ के जीवन को कठिन बना दिया है।

केन्द्र सरकार द्वारा बनायी गयी राष्ट्रीय आवास एवं घर नीति-2007 का प्रारूप यद्यपि एक प्रभावशाली अभिलेख है किन्तु क्या वह नगरों के नियोजित विकास एवं आवास क्षेत्र की समस्याओं का समाधान कर सकेगा? प्रश्न है कि क्या हम नोएडा, ग्रेटर नोएडा, मोहाली या चंडीगढ़ के मॉडल को नहीं अपना सकते हैं? क्या हमारे योजनाकारों की शहरों को आधुनिक रूप देने की परिकल्पना साकार नहीं हो सकती है? नगरीय विकृतियों और समुचित नगरीय सुविधाओं के अभाव से क्या हम मुक्त नहीं हो सकते हैं? शहरी विकास का आधार अच्छा 'नियोजन' एवं उस पर 'प्रभावी कार्यान्वयन' होना चाहिये जिसकी सशक्त अवधारणा ऊप्र० नियोजन एवं विकास अधिनियम, 1973 में महायोजना व परिक्षेत्रीय योजनायें बनाये जाने के माध्यम से एवं तदनु रूप नियोजित विकास किये जाने के रूप में है। प्रदेश के अनेक शहरों की महायोजनाओं की प्रासंगिकता समय व्यतीत होने के साथ समाप्त हो गयी है। आऊटसोर्सिंग से महायोजना परिक्षेत्रीय विकास योजनायें बिना विलम्ब के बनानी चाहिए। इन

योजनाओं के बनाने व लागू करने में हो रही देरी नगरीय विकास को अपूर्णीय क्षति पहुंचा रही है क्योंकि मार्गों व जनसुविधाओं के लिये भूमि का चिन्हीकरण व विकास नहीं हो पा रहा है। इन्हें ग्रामों के सजरा मानचित्र पर बनाया जाये, जिससे प्रत्येक गाटा की भूमि का भू-उपयोग सुगमता से ज्ञात हो सके व उसका कार्यान्वयन सभी स्तरों पर सम्भव हो सके।

महायोजना व परिक्षेत्रीय योजनायें व्यवहारिक हो जो स्थल के व्यापक अध्ययन व आंकड़ों के आधार पर जनसहभागिता से ख्यातिलब्ध विशेषज्ञों द्वारा बनायी जानी चाहिए। आधुनिक तकनीकी जैसे 'ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम' व सेटेलाइट इमेजरी के माध्यम से कम्प्यूटर से बनाना चाहिए। इन योजनाओं को तैयार करने के लिए मानक भी निर्धारित करने चाहिए, जिसमें मार्गों व हरित पट्टिका का प्रतिशत क्षेत्रफल बढ़ाया जा सके। इन योजनाओं की प्रगति की समीक्षा भी नियमित रूप से होनी चाहिए ताकि यह योजनाएँ मात्र कागज़ी न बन रहें वरन् धरातल की वास्तविकता के अनुरूप हों।

अच्छी से अच्छी 'प्लानिंग' बिना प्रभावी कार्यान्वयन में निरर्थक व बेमाने है किन्तु इसके लिये राजनैतिक व प्रशासनिक दृढ इच्छा शक्ति की आवश्यकता है। अनधिकृत निर्माणों का ध्वस्तीकरण वर्तमान परिवेश में अत्यन्त कठिन है, अतः महती आवश्यकता इस बात की है कि अनधिकृत निर्माण ही न हो सकें। 'सेटेलाइट इमेजरी' का प्रयोग निर्माणों पर निरन्तर निगाह व अकुंश हेतु लाभप्रद हो सकता है। प्रदेश के आंकड़े इंगित करते हैं कि 23 मार्च 2001 तक 2055 अवैध कालोनियाँ चिन्हित हुईं, जिनके विनियमितीकरण की नीति के उपरान्त भी मात्र 268 प्रस्ताव आये, जिसमें से विनियमित कॉलोनियों की संख्या नगण्य ही है। इस परिप्रेक्ष्य में अनाधिकृत निर्माण करने को संज्ञेय अपराध की श्रेणी में भी लाना उचित होगा।

प्रत्येक स्तर पर नीति निर्धारण की प्रक्रिया में प्रशासन /प्राधिकरणों को स्टेक होल्डर्स को सम्मिलित करना चाहिए। समस्याओं के समाधान के लिए प्रदेशस्तरीय एवं स्थानीय 'आवास बन्धु' को और अधिक प्रभावी बनाना चाहिए। तहसील दिवस की तर्ज पर 'प्राधिकरण दिवस' आयोजित होने चाहिए। प्रत्येक शहरवासी को यह भी समझना होगा कि यह शहर उसका है जिसे सुंदर व सुरक्षित बनाये रखना है। अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर सामाजिक हित में सोचना होगा। स्वैच्छिक संगठनों को भी जागरुकता अभियान चलाना होगा। शासन एवं प्रशासन से अपेक्षा मात्र से सुधार नहीं होगा। नगरों के बिगड़ते स्वरूप को और अधिक बिगड़ने से रोकने के लिए हम सबको समन्वित रूप से पुरजोर प्रयास करने होंगे, हमें अपने दायित्व को भी समझना होगा और कारगर कदम भी समय रहते उठाने होंगे अन्यथा हमारी आगामी पीढ़ियाँ हमें दोषी ठहरायेंगी।

(वर्ष 2008 में डी.एल.ए. में प्रकाशित)

समाधिमरण नहीं है आत्महत्या

‘अहिंसा परमो धर्मः’ को मानने वाले जैन धर्म में ‘समाधिमरण’ की अवधारणा क्या अहिंसा विरोधी है? जैन धर्म में जीवन को हिंसा से बचाने का सिद्धान्त है, वहीं दूसरी ओर अपनी जीवनलीला को स्वयं समाप्त करने का समाधिमरण का सिद्धान्त। ऐसे में प्रश्न उठता है कि क्या समाधिमरण आत्महत्या है? यदि हम समाधिमरण के पीछे जैन दर्शन को समझें, तो यह स्पष्ट है कि यह पूर्णतः अहिंसक है।

जैन धर्म में समाधिमरण या संल्लेखना की अनुमति केवल चार परिस्थितियों में ही है। यह उपसर्ग, दुर्भिक्ष, अति वृद्धावस्था और असाध्य रोग हैं। इन चारों स्थितियों में अपने धर्म की रक्षा हेतु आहार का त्याग कर शरीर का त्याग संल्लेखना है। जैन धर्म किसी स्वस्थ व्यक्ति को जीवनलीला समाप्त करने की अनुमति नहीं देता है। यदि समाधिमरण के दर्शन और सिद्धान्त पर विचार किया जाए तो यह जीवनपर्यन्त किये गये तपस्या और साधना से ही सफल हो पाता है।

संल्लेखना विधि के संबंध में आचार्यों ने कहा है कि इसको करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले पदार्थों से प्रेम और अनुराग का त्याग करना चाहिए। इसके बाद सुख या दुःख के भाव का त्याग फिर निकट कुटुंबियों से मोह छोड़ सभी जीवों को क्षमा करने का भाव आना चाहिए। इसके बाद आहारादि का त्याग कर धीरे-धीरे जल पर आना होगा। इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार जल का त्याग कर देना चाहिए और मन में ‘पंच नमस्कार मंत्र’ का चिंतन करते हुए अति निर्मल भावों के साथ शरीर का त्याग कर देना चाहिए। संल्लेखना के विषय में आचार्यों ने यह भी कहा है कि इसको धारण किए हुए व्यक्ति के मनोभाव ऐसे होने चाहिए कि उसमें अधिक काल तक जीने की इच्छा न हो (जीविताशंसा), जल्दी मरने की इच्छा न हो (मरणशंसा), यह मन में विचार न हो कि परलोक में इसका फल मिलेगा या नहीं (परलोक भय) मित्रों का स्मरण भी न आये (मित्र स्मृति /मित्रानुराग) और आगामी काल के लिए भोगों की इच्छा भी न हो (निदान)। यदि इस प्रकार की भावनाएँ आती हैं, तो उसे संल्लेखना व्रत के अतिचार के रूप में कहा है। इन सभी भावनाओं से रहित संल्लेखना के स्वरूप को आचार्यों ने समझाया है।

समाधिकरण में कषायों का अभव और राग-द्वेष के अभाव की भी सशक्त अवधारणा है। गड्ढे में दब मरना, जल में डूब मरना, पर्वत से गिरकर मरना, अग्नि में जल मरना, सती होना आदि समाधिमरण नहीं है अपितु ये आत्महत्या के रूप हैं। जो लोग इस तरह से मौत को गले लगाते हैं वे पाप के भागी होते हैं। कषायवश या राग-द्वेषवश अपने जीवन का घात करना बहुत बड़ा पाप है। इसका दुःख अनेकानेक आगामी जन्मों तक भोगना होता है, जबकि समाधिकरण मोक्ष का मार्ग है। भगवान महावीर ने अहिंसा के उपदेश के साथ मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने और आगामी जीवन को सुखमय बनाने का जो मार्ग दिखाया, उसमें हिंसा का स्थान नहीं है। आत्महत्या का विचार भी मन में आना पाप का कारण है। नीति व न्याय के साथ अपने जीवन में कठिन से कठिन परिस्थिति का सामना करना हमें सीखना होगा और सकारात्मक दृष्टिकोण और ईश्वर का दिखाया मार्ग ही उसमें हमको सफल बना सकता है।

(दि. 18.4.2008 को अमर उजाला 'कॉम्पैक्ट' में प्रकाशित)

उपेक्षित न्यायपालिका

न्यायालय मुकदमों से पटे हुए हैं। त्वरित, सुगम व सस्ते न्याय की आशा वर्तमान भारतीय न्यायिक व्यवस्था में मृग-मरीचिका सी ही है। यदि कोई मुकदमा एक पीढ़ी में निर्णीत हो जाए, तो वह वादकारी भाग्यशाली है। सैकड़ों पद जनपद व उच्च न्यायालय स्तर पर रिक्त हैं। चूंकि मुकदमों के बोझ से न्यायालय अत्यधिक दबे हैं, अतः मुकदमा सुनते व निर्णय करते समय न्यायाधीशों की मानसिकता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है, जिससे निर्णयों की गुणवत्ता भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। ऐसी जटिल, खर्चीली व समय लगाने वाली न्यायिक व्यवस्था जिसमें कमजोर व्यक्ति न्याय प्राप्त करने के अधिकार से वंचित हो जाए, कहाँ तक उचित है?

ख्यातिलब्ध व न्यायविद् नानी पालखीवाला ने भारतीय न्यायिक व्यवस्था के संबंध में टिप्पणी की थी कि 'यदि मुझसे भारत में न्याय के प्रबंधन की सबसे बड़ी कमी आज पूछी जाए, तो मैं कहूँगा कि वह 'विलंब' है। मुकदमों के निर्णय में अत्यधिक विलम्ब होता है। मैं विश्व के ऐसे किसी देश को नहीं जानता जहाँ पर मुकदमों इतने लंबे चलते हों जितने भारत में चलते हैं।' भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश पी.एन. भगवती ने भी कहा था कि, 'भारतीय न्यायिक व्यवस्था लम्बित मुकदमों के बोझ से टूट रही है।'

यदि हम वर्तमान स्थिति देखें तो लोग अपने हाथों में कानून ले रहे हैं, अपराधी अपराध करके जमानत पर खुलेआम घूम रहे हैं और दंडित नहीं हो पा रहे हैं। अपराधों के सापेक्ष में दंडित होने वाले अभियुक्तों की संख्या नगण्य है। आखिर इस न्यायिक परिदृश्य के लिए कौन दोषी है? यह लंबी बहस का विषय है किन्तु समस्या का एक पहलू तो स्पष्ट है कि केन्द्र सरकार, राज्य सरकारें व योजना आयोग की दृष्टि में न्यायपालिका की कोई प्राथमिकता नहीं है वस्तुतः वह उपेक्षित है।

न्यायपालिका को आर्थिक अधिकार व आर्थिक स्वायत्तता दिया जाना न्यायपालिका की स्वतंत्रता और उसे प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है। उच्च न्यायालय स्वेच्छा से अपनी वित्तीय व्यवस्थाओं को स्वयं नहीं कर सकता है। नियुक्तियों एवं पदों के सृजन के लिए भवनों के निर्माण के लिए राज्य सरकार की ओर देखना पड़ता है। न्यायालयों में बेहतर सुविधाएं वादकारियों को दी जानी चाहिए। वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग का प्रयोग साक्ष्य व रिमांड आदि के लिए किया जाना चाहिए। न्यायालयों में कंप्यूटर और इंटरनेट की सुविधा होनी चाहिए। वादकारियों के बैठने के लिए उचित कक्ष हों। वादों का प्रबंधन आधुनिक सिद्धांतों पर आधारित हो।

अक्सर शासन के अधिवक्ता और विभाग मुकदमों में प्रभावी पैरवी नहीं करते हैं और एक के बाद एक तिथियाँ प्रतिवाद पत्र और प्रतिशपथ पत्र दाखिल करने के लिए लेते रहते हैं, जिससे वादकारी पीड़ित होता है। न्यायालयों के आदेशों का भी समयबद्ध अनुपालन प्रायः नहीं होता है, जिससे मजबूरन अवमानना याचिकाएँ प्रस्तुत करनी पड़ती हैं। सरकारी अधिवक्ताओं की नियुक्ति योग्यता के आधार पर कम व व्यक्तिगत /राजनैतिक संबंधों के कारण अधिक प्रभावित होती है।

संविधान में यह महत्वपूर्ण नीति निर्देशक तत्व (अनुच्छेद 39क) है, कि राज्य को यह सुनिश्चित करना है कि विधिक तंत्र इस प्रकार काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और आर्थिक या किसी अन्य नियोग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रहे। केंद्र सरकार की उच्च न्यायालयों की खण्डपीठ न बनाने की अघोषित नीति है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति न्याय से वंचित होते हैं। संवैधानिक दायित्व के प्रति सरकार की उदासीनता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि तीन सदस्यीय जसवंत सिंह आयोग की संस्तुति के उपरांत भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश में उच्च न्यायालय की खंडपीठ स्थापित नहीं हो सकी और कमजोर जनता निरंतर पीड़ित हो रही है। यदि गंभीरता से चिंतन मनन किया जाय तो यह बात सामने आती है कि कार्यपालिका व राजनेता न्यायपालिका को और अधिक शक्तिशाली नहीं बनाना चाहते हैं क्योंकि उनके मानस में यह भावना छिपी है कि न्यायपालिका उनकी विरोधी है। ऐसी भावना कहाँ तक उचित है? भारतीय संविधान में न्यायपालिका की विशिष्ट भूमिका है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कार्यपालिका व राजनेता न्यायपालिका के प्रति अपने ऐसे दृष्टिकोण में सकारात्मक बदलाव लायें और लोकतंत्र की सफलता के लिए न्यायपालिका की भूमिका को अधिक सशक्त, प्रभावी व लोकोपयोगी बनाने हेतु सकारात्मक निर्णय लें।

(डी.एल.ए. में प्रकाशित)

बिन पानी सब सून

गिरते हुए भूगर्भीय जलस्तर पर संगोष्ठियाँ, वार्ताएँ और मीडिया की चिंता प्रायः दिख जाती है, किन्तु उसके समाधान हेतु हमारे कितने सार्थक प्रयास हैं और उनके क्या परिणाम हैं, यह किसी से छिपा नहीं है।

फेल होते ट्यूबवैल और बोरिंग्स किसानों और शहरवासियों सीमा के लिए चिंता उत्पन्न कर रहे हैं। शहरों और ग्रामों में पानी के झगड़े आम बात हो गयी है। नदियों में घटता हुआ जल स्तर और बढ़ता हुआ प्रदूषण जल संस्थानों और स्थानीय निकायों के लिए चुनौती बन गया है। नागरिकों का समस्या के समाधान में सहयोग कम और असहयोग अधिक है। उपलब्ध पानी की गुणवत्ता भी घट रही है व जल समस्या प्रतिदिन बढ़ रही है। वर्ष 20-25 तक विश्व की समस्त जनसंख्या का 2/3 भाग जलाभाव से ग्रसित होगा।

पेयजल हमारी प्राथमिक आवश्यकता है। संविधान के अनुच्छेद-21 के अंतर्गत 'जीवन के अधिकार' में शुद्ध पेयजल की उपलब्धता सुनिश्चित कराया जाना अन्तर्निहित है। सर्वोच्च न्यायालय ने एक निर्णय में स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'पेयजल की उपलब्धता जीवन के लिए आधारभूत है और स्वच्छ पेयजल नागरिकों को उपलब्ध कराना सरकार का दायित्व है।' नर्मदा बचाओ आन्दोलन के प्रकरण में भी सर्वोच्च न्यायालय ने जल को मनुष्यों के अस्तित्व के लिए आधारभूत आवश्यकता बताते हुए उसे मानव जीवन के अधिकार का हिस्सा माना। डी.के. जोशी बनाम उ.प्र. राज्य के प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में आगरा में प्रदूषित पेयजल की खराब स्थिति को देखते हुए स्थायी अनुश्रवण समिति का गठन भी कर दिया। वर्ष 1977 में संपन्न हुई 'यूनाइटेड नेशन्स वॉटर कॉन्फ्रेंस' में, प्रस्ताव पारित किया गया कि पर्याप्त व गुणवत्ता वाला पेयजल प्रत्येक को उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप उपलब्ध कराया जाएगा। चाहे वह ग्रामीण क्षेत्र हो या शहरी, नागरिकों को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराने का संवैधानिक दायित्व सरकार का ही है, लेकिन उसकी दुहाई देने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता है, इससे हम भलीभाँति अवगत हैं।

भूगर्भीय जल के गिरते स्तर को रोकने के लिए वर्षा जल का संचयन आवश्यक है लेकिन केवल यही समाधान नहीं है क्योंकि हमारी जल की आवश्यकता वर्षा से प्राप्त होने वाले जल से कहीं अधिक है इसलिए हमें समग्र जल प्रबन्धन नीति अपनानी होगी। प्रयोग हुए पानी को रीसाईकिल करना उसका सबसे महत्वपूर्ण अंग होगा और उसे पार्को, धुलाई और शौचालय आदि में उपयोग करना होगा। नालों के पानी को स्वच्छ कर उससे शहर के बड़े-बड़े पार्को और हरित पट्टिका की सिंचाई करनी होगी।

कृषि कार्यों में कुल भूगर्भीय जल का 65-70 प्रतिशत जल व्यय होता है। कौन सी फसलें बोयें जिनमें पानी की आवश्यकता कम हो और भूगर्भीय जल का न्यूनतम उपयोग हो, इसके संबंध में हमें क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप कृषि विशेषज्ञों से परामर्श लेना होगा। किसानों को व्यावसायिक दृष्टिकोण छोड़कर भूगर्भीय जल को बचाने के भरसक प्रयास करने होंगे।

भूगर्भ जल विभाग ने शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में भूगर्भीय जलस्तर के मापन हेतु पीजोमीटर लगाये हैं, किन्तु उनके आंकड़ों के प्रचार-प्रसार में कमी है। किस क्षेत्र विशेष में जलस्तर गिर रहा है, उस क्षेत्र के निवासियों को आगाह करना आवश्यक है। इस संबंध में भूगर्भीय जल विभाग को अपनी भूमिका और अधिक प्रभावी बनानी होगी।

जल के सम्यक् उपयोग के लिए स्व-अनुशासन की कमी है, जिसके कारण अनेक प्रदेशों में कानून बनाकर बोरिंग आदि पर रोक लगा दी गई है। उत्तर प्रदेश में भी अब समय आ गया है जब सरकार को प्रभावी कानून बनाना होगा। ऐसा कानून भ्रष्टाचार को अवश्य जन्म देगा किन्तु अन्य विकल्प नहीं हैं। प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा करे व उन्नत बनाये। राज्य का भी पर्यावरण को सुरक्षित रखने का दायित्व है। अतः भूगर्भीय जल के अविवेकपूर्ण दोहन को रोकने का कानून संवैधानिक कसौटी पर खरा होगा।

गिरते हुए जलस्तर को रोकने के लिए वृक्षारोपण भी आवश्यक है। वर्तमान में उत्तर प्रदेश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफ़ी के मात्र 8.8 प्रतिशत क्षेत्र में ही वृक्षारोपण है। राष्ट्रीय वन नीति, 1988 के अनुसार वृक्षावरण को बढ़ाकर वर्ष 2007 तक 25 प्रतिशत तथा वर्ष 2012 तक 33 प्रतिशत तक लाने का लक्ष्य है, जो बिना जनान्दोलन के संभव नहीं है।

नदियों पर बांध बनाने होंगे। 'आगरा बैराज परियोजना' जलस्तर को बढ़ाने के लिए रामबाण हो सकती है, जिस पर अनमानित व्यय 352 करोड़ है लेकिन उसकी सफलता के लिए नालों को पहले टैप करना आवश्यक होगा। सीवेज ट्रीटमेन्ट प्लांट जहाँ नदियों को प्रदूषित होने से रोकेंगे, वहाँ ऐसे प्लांटों से निकलने वाला शोधित जल कृषि आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा जो भूगर्भीय जी के अनावश्यक दोहन को रोकने में कुछ सीमा तक कारगर होगा। प्रत्येक कॉलोनी व बस्ती में 'जल मित्रों' की टीम बनानी होगी। वार्ड, जनपद, मंडल और प्रदेश स्तर तक उनके संगठन सृजित करने होंगे।

भूगर्भीय जल के बढ़ते प्रदूषण के प्रति भी हमें जागरूक होना होगा और उसे प्रभावी ढंग से रोकना होगा। बढ़ते हुए फर्टिलाइज़र्स और पैस्टीसाइड्स का उपयोग तथा प्रदूषित जल को सीधे भूगर्भीय जल से मिला देने से भी यह समस्या बढ़ रही है। कुल मिलाकर जल जैसी साझा सामुदायिक सम्पत्ति के प्रति जागरूकता समय की आवश्यकता है जो हमारे व्यवहार में भी दिखाई देनी चाहिए, मात्र चिंता तक सीमित नहीं होनी चाहिए। भूगर्भीय जल का कैसे मितव्ययितापूर्ण सम्यक् उपयोग हो, हमें अच्छी तरह सीखना होगा व भूगर्भीय जल धरोहर को हमें संरक्षित रखना होगा अन्यथा आगामी पीढ़ियाँ हमें दोषी ठहरायेंगी और जल समस्या विकराल रूप धारण कर आपसी विवादों, सामाजिक अस्थिरता और 'जल बिन सब सून' की स्थिति को भी जन्म देगी।

(दि0 10.6.2008 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

वाह ताज, आह आगरा

भारी बारिश आगरा के लोगों के लिए खुशी का पैगाम नहीं, परेशानियाँ लाती है। इसके चलते घरों, बस्तियों, कॉलोनियों और बाजारों में जल ही जल दिखाई देता है और कुछ समय के लिए लोगों का जीवन नारकीय हो जाता है। हर वर्ष इस दृश्य की पुनरावृत्ति होती है और हम इसे रोकने में असमर्थ हैं। आखिर इस स्थिति के लिए कौन उत्तरदायी है?

शहरीकरण की तेज रफ़्तार और उसके सापेक्ष जल-निकासी का अभाव सम्भवतः जलभराव का मुख्य कारण है। वर्तमान में भारत की शहरी जनसंख्या कुल जनसंख्या का 28 प्रतिशत है। वर्ष 2021 तक यह 40 प्रतिशत हो जाएगी। बढ़ती जनसुख्या के आवास के लिए शहर विकृत रूप से विकसित हो रहे हैं। अनाधिकृत कॉलोनियों व निर्माणों की बाढ़ है। इनमें जल निकासी की ठीक व्यवस्था नहीं है। जो कॉलोनियाँ प्राधिकरण द्वारा स्वीकृत भी हैं, वहाँ आंतरिक नालियाँ यदि हैं भी, तो उन्हें जोड़ने के लिए बाहर ड्रेनेज की व्यवस्था नहीं है। पुराने शहर व नगर निगम की सीमाओं में ड्रेनेज की व्यवस्थाओं का मुख्य उत्तरदायित्व नगर निगम का ही है, किन्तु वह उसके निर्वहन में कहाँ तक सफल है? समस्या का समाधान एक-दो नालों के निर्माण से नहीं, बल्कि उचित सर्वेक्षण कर आगरा महानगर का समग्र ड्रेनेज मास्टर-प्लान बनाने से होगा, जिसमें कुल कैचमेंट एरिया से एकत्रित होने वाला वर्षा जल व गंदे पानी की निकासी की उचित प्लानिंग की आवश्यकता होगी। जल निगम द्वारा 'जवाहरलाल नेहरू अरबन रिनुअल मिशन' के अंतर्गत ड्रेनेज मास्टर-प्लान बनाए जाने की प्रक्रिया चालू है किन्तु ऐसा ड्रेनेज मास्टर-प्लान कितना व्यावहारिक होगा, वह कितने समय में क्रियान्वित हो सकेगा और उसका रखरखाव सफाई इत्यादि कौन करेगा? यह यक्ष प्रश्न भी अनुत्तरित है।

शहर में जो नाले हैं उनकी सफाई नहीं होती। हर मानसून से पहले नालों की सफाई का शोर मचता है, ठेके उठते हैं लेकिन परिणाम वही 'ढाक के तीन पात'। क्षेत्रीय पार्षदों, क्षेत्रीय जनता को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहकर नालों की सफाई व रखरखाव की व्यवस्था सुनिश्चित करानी ही होगी अन्यथा कोई भी अच्छे से अच्छा ड्रेनेज मास्टर-प्लान भी कारगर नहीं होगा।

जलभराव के लिए हम भी कम उत्तरदायी नहीं हैं। नालियों-नालों पर अतिक्रमण कर उन्हें कूड़ाघर बना दिया है। वर्षा जलभराव एक अन्य विरोधाभास को भी परिलक्षित करता है—एक ओर भूगर्भीय जलस्तर के निरंतर गिरने से भविष्य अंधकारमय दिख रहा है, वहीं दूसरी ओर वर्षा जल संचयन के स्थान पर हम उसे नदी-नालों में बहने दे रहे हैं। यदि हम अपने-अपने घरों में इसका संचयन करें तो कुछ सीमा तक जल समस्या को नियंत्रित कर सकते हैं। नये विकसित हो रहे व्यावसायिक भवनों, कॉलोनियों एवं टाउनशिप के लिए केंद्र सरकार की पर्यावरण अनापत्ति के लिए भी वर्षा जल संचयन और 'वॉटर रीसाइक्लिंग' आवश्यक है, जिसे कड़ाई से पालन कराना होगा। आगरा शहर का लगभग 20 प्रतिशत भाग ही सीवरयुक्त है, जिन क्षेत्रों में सीवर हैं भी, वहाँ

सीवर लाइनें प्रायः उफनती रहती हैं और चौक रहती हैं। 'यमुना एक्शन प्लान' के अंतर्गत पूरे शहर को जल निगम सीवरयुक्त करना चाहता है किंतु क्या बिना उचित डिजाइन, जनसहभागिता और पारदर्शिता के यह संभव हो सकेगा? दयालबाग क्षेत्र में सीवर डिजाइन को लेकर मीडिया ने आवाज उठाई। हमको मूकदर्शक नहीं बने रहना होगा, अपने नागरिक कर्तव्य के निर्वहन हेतु आगे आना होगा।

नगर निगम की सीमा के बाहर आगरा विकास प्राधिकरण को 'विकास क्षेत्र' में ड्रेनेज व्यवस्था विकसित करने में सक्रिय भूमिका निभानी होगी, जिसके लिए 'विकास व्यय' वसूली का विधिक अधिकार भी उत्तर प्रदेश नगर नियोजक एवं विकास अधिनियम, 1973 के अंतर्गत प्राधिकरण को उपलब्ध है। 'प्राधिकरण तकनीकी एवं वित्तीय रूप से दक्ष है। अतः उसे ड्रेनेज व्यवस्था के विकास का दायित्व लेना होगा। इसके साथ ही अनाधिकृत कॉलोनियों और निर्माणों पर प्रभावी रोक भी लगानी होगी, ताकि नियोजित विकास हो।

स्वतंत्रता के 61वें वर्ष में भी यदि ताज के शहर में लोग बारिश के कारण नारकीय जीवन बितायें, रोगों से संक्रमित हों, तो इसे स्वतंत्र भारत का कौन सा पड़ाव कहेंगे? ऐसे में मुंह से केवल यही निकल सकेगा—“वाह ताज, आह आगरा”।

•

व्यवहारिक हो भूमि अधिग्रहण नीति

देश की बढ़ती जनसंख्या और सिकुड़ती हुई कृषि भूमि, निरंतर खाद्यान्न उत्पादन का घटना और राज्य सरकारों द्वारा कथित जनप्रयोजन के लिए कृषि भूमि का भूमि अध्याप्ति अधिनियम, 1894 अथवा अन्य कानूनों के अंतर्गत अधिग्रहण कहां तक उचित है?

आंकड़े बताते हैं कि वर्ष 1989-90 से 2005-06 के 16 वर्षों में खाद्यान्न उत्पादन अंतर्गत कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल 0.3 प्रतिशत और खाद्यान्न उत्पादन 1.2 प्रतिशत घटा है, जबकि जनसंख्या में 1.9 प्रतिशत की दर से वार्षिक वृद्धि हुई है। उच्चतम न्यायालय ने हैदराबाद एवरेसिव एवं मिनरल्स (1997) के प्रकरण में यह कहा कि कृषि हमारी अर्थव्यवस्था का मुख्य अंग है व ग्रामीण भारतीयों की आजीविका और सम्मान का आधार भी। हमारी सामाजिक व्यवस्था में भूमि और व्यक्ति की प्रतिष्ठा के बीच में सशक्त संबंध है और कृषि भूमि सुरक्षा के भाव एवं भय से मुक्ति का आधार है।

वर्तमान में कृषि भूमि के अर्जन के विरुद्ध विधि में कोई व्यवस्था नहीं है। हाँ, यदि किसी कम्पनी के लिए कृषि भूमि का अर्जन प्रस्तावित हो, तो कंपनियों के अर्जन संबंधी नियमावली के नियम 4 के अनुसार एक समिति द्वारा यह परीक्षण किया जायेगा कि अर्जन हेतु प्रस्तावित भूमि 'यदि अच्छी कृषि भूमि' है, तो क्या उसके स्थान पर कोई अन्य वैकल्पिक उपयुक्त भूमि उपलब्ध है? समिति को यह भी देखना होता है कि भूमि का क्षेत्रफल आवश्यकता से अधिक तो नहीं है। कृषि भूमि का 'लोक प्रयोजन' के लिए अर्जन की वैधता का प्रश्न मा0 उच्चतम न्यायालय में भी लंबित है।

गंभीरता से विचार किया जाए तो मुद्दा कृषि भूमि के अर्जन की वैधानिकता या अवैधानिकता का कम, बल्कि विधायिका /शासन के नीति का अधिक है। 114 वर्ष पुराने बने भूमि अध्याप्ति अधिनियम, 1894 के संशोधन का मामला केन्द्र सरकार के समक्ष विचाराधीन है। केन्द्र सरकार ने विस्तृत विधेयक लोकसभा में 6 दिसम्बर 2007 को प्रस्तुत किया पर यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस विधेयक में इस समस्या का कोई समाधान नहीं सुझाया गया है। चूंकि यह महत्वपूर्ण विधेयक वर्तमान में संसद के स्थायी समिति के समक्ष विचाराधीन है, अतः कृषि भूमि के अर्जन की नीति क्या होनी चाहिए? यह ज्वलंत प्रश्न हमारे सामने है।

यह भी विचारणीय है कि लोकहित के लिए कृषि भूमि की आवश्यकता और घटती कृषि भूमि के मध्य संतुलन कैसे बनाया जाए?

इसका एक अच्छा समाधान यह होगा कि भूमि अध्याप्ति (संशोधन) विधेयक, 2007 में उक्त नियमावली के नियम 4 के समकक्ष ही प्रावधान को लाया जाए, जिसके चार लक्ष्य हों—प्रथम—यदि कोई अन्य 'वैकल्पिक भूमि' उपलब्ध है तो अच्छी कृषि भूमि का अर्जन न किया जाए। द्वितीय—कृषि भूमि का न्यूनतम क्षेत्रफल का अर्जन हो, जिसका उपयोग अर्जन की तिथि से 5 वर्ष में अवश्य हो।

तृतीय-यदि अर्जित कृषि भूमि का उपयोग 5 वर्षों में नहीं होता है तो भूमि का किसानों को इस शर्त पर वापिस किया जाए कि वे प्राप्त प्रतिकर की राशि को ब्याज सहित वापिस करेंगे। चतुर्थ-ऐसी संस्था जिसके द्वारा निर्धारित 5 वर्ष की अवधि में अर्जित कृषि भूमि का उपयोग नहीं किया जाता है, तो वह अर्जन के अन्य प्रस्तावों को निश्चित समयावधि तक लाने के लिए निषिद्ध हो। कुल मिलाकर कृषि भूमि के अर्जन न किये जाने की संसद व केन्द्र सरकार की सुस्पष्ट नीति होनी चाहिए और यदि लोक प्रयोजन के लिए उसकी अत्यंत आवश्यकता हो, तो उसका अर्जन भलीभांति परीक्षण कर सर्शत होना चाहिए, ताकि शासन द्वारा संप्रति कृषि भूमि के अंधाधुंध अर्जन पर प्रभावी रोक लग सके।

नगरीय विकास, स्पेशल इकनोमिक जोन, इंफ्रास्ट्रक्चर व औद्योगिक विकास के लिए भूमि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए नीतिकारों को इस पहलू पर भी विचार मंथन करना होगा कि शहरों की होरीजॉन्टल ग्रोथ के स्थान पर वर्टिकल ग्रोथ हो, जिससे भूमि का अधिकतम उपयोग सुनिश्चित हो। विकास की प्रक्रिया से कृषि भूमि न्यूनतम प्रभावित हो, इसके लिए पुराने शहरों के पुनर्निर्माण की अवधारणा भी उपयुक्त कानून बनाकर आगे बढ़ानी होगी। भूमि अर्जन को 'आर्थिक सिद्धांत' कम और 'मानवीय समस्या' अधिक समझना होगा। साथ ही विस्थापित कृषकों को पुनर्स्थापना को भी एक वास्तविकता बनाना होगा। इसके लिए हमारी व्यवहारिक नीति, दृढ़ इच्छाशक्ति व जनोन्मुखी विधि की आवश्यकता होगी।

(दि0 7.7.2008 को 'अमर उजाला — कॉम्पैक्ट' में प्रकाशित)

कमजोर होती विवाह संस्था की नींव

विवाह व्यवस्थित सामाजिक संरचना का आधार है। पश्चिमी देशों में बिना विवाह के स्त्री-पुरुषों के साथ रहने की शुरुआत से वहां सामाजिक जटिलताएं उत्पन्न हो रही हैं। भारतीय परिवेश में विवाह जन्म-जन्मांतर का बंधन है किन्तु बढ़ते तलाक और वैवाहिक तनाव कमजोर होती विवाह संस्था और उसमें उत्पन्न होती विकृतियों के संकेतक हैं। पहली कमी हमारे द्वारा विवाह को 'आर्थिक सिद्धांत' बना देना है। विवाह किसी बेटी की योग्यता, संस्कारों और परवरिश पर ध्यान देने की अपेक्षा परिवार की आर्थिक संपन्नता पर केन्द्रित हो जाता है। यदि कन्या पक्ष या वर पक्ष आर्थिक रूप से समृद्ध नहीं हैं तो संबंध जोड़ने के लिए बात आगे नहीं बढ़ती। अर्थ प्रधान समाज में विवाह भी अर्थ पर ही टिककर रह गया है। 'दुल्हन ही दहेज है' मात्र नारा बन कर रह गया है।

अधिकांश विवाहों में विवाह पूर्व लड़का-लड़की एक-दूसरे को अच्छी तरह जान व समझ नहीं पाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक बार एक-दूसरे का स्वभाव और पसंद न मिलने से विवाहोपरांत तनाव उत्पन्न होता है। शहरी क्षेत्रों में चूंकि लड़का-लड़की प्रायः 'शिक्षित, स्वावलंबी, अपनी पसंद का ख्याल रखने वाले होते हैं इसलिए उनमें लचीलापन, त्याग और सामंजस्य की कमी होती है। माता-पिता की अपनी व्यस्तताओं के कारण बच्चों से संवाद ही होता है। टीवी और मोबाइल ने भी समय की कमी कर दी है। नई पीढ़ी में सामंजस्य कम और जिद अधिक है क्योंकि हम बच्चों में संस्कार एवं जीवन मूल्य देने में पिछड़ रहे हैं। परिणामस्वरूप नई पीढ़ी स्व-केन्द्रित होती जा रही है और उसमें टीम भावना की कमी हो रही है।

देखा जाए तो विवाह जैसा निर्णय जिस उतावलेपन से लिया जाता है वह भी इस संस्था को कमजोर करने का एक कारण है। अतः विवाह का निर्णय अधिक गंभीरता एवं समझकर लेना चाहिए। विवाह के लिए जन्मपत्रियों का मिलान तो कराया जाता है किन्तु कर्मपत्री मिलाने का कोई प्रयास नहीं होता। पति-पत्नी का संबंध मजबूरी नहीं बल्कि आपसी प्रेम, सद्भाव, सामंजस्य व विश्वास पर आधारित पवित्र बंधन है, जिसमें प्रतिबद्धता होनी चाहिए। युगों-युगों से चली आ रही पुरुष प्रधान प्रवृत्ति नए युग की स्वावलंबी युवतियों को कैसे रास आ सकती है, जो तकरार और वैवाहिक जीवन में बिखराव लाती है। पुरुषों और उनके परिजनों की सोच में बदलाव भी समय की आवश्यकता है। युवतियों को भी उचित स्पेस देना होगा। पति व पत्नी के मध्य घटता विश्वास भी विवाह संबंधों में तनाव व बिखराव ला रहा है। पति-पत्नी के विवाह पूर्व के मित्रों से विवाहोपरान्त संबंध व लगाव अविश्वास उत्पन्न करता है। अतः पति या पत्नी को ऐसे संबंधों से बचना चाहिए।

शहरी क्षेत्रों में सामाजिक संस्थाएँ, परिजनों व मित्रों की भूमिका वैवाहिक संबंधों को जोड़ने में कमजोर हुई है। इसलिए अब मैरिज कोऑर्डिनेटर्स कमीशन पर संबंध जोड़ने में बिचौलिया की भूमिका निभाते हैं। जब विवाह अपरिचित व्यक्तियों और विज्ञापनों की पहल पर हो तो उसकी सफलता कितनी होगी, अनुमान लगा सकते हैं। अब तो विवाह सार्वजनिक उत्सव अधिक और व्यक्तिगत समारोह कम लगता है। आखिर विवाह में इतनी बड़ी संख्या में अतिथियों को बुलाने की आवश्यकता क्यों है, जब हम बुलाए गए अतिथि से न बात कर सकते हैं, न उचित आतिथ्य ही दे पाते हैं। सड़कों पर बारातों से ट्रैफिक जाम, महिलाओं के सड़क पर नृत्य, बारातियों में शराब का चलन, लिफाफों और उपहारों को देने का प्रचलन, व्यक्तिगत आमंत्रण आदि अनेक विषयों पर सामाजिक संस्थाओं को विचार करना होगा और उन्हें समाप्त करना होगा। आवश्यकता है कि विवाह समारोह में सादगी और संजीदगी हो। इन सभी विकृतियों की छाया वैवाहिक जीवन पर भी अनेक बार पड़ जाती है। कन्या भ्रूण हत्या, स्त्रियों का पुरुषों के सापेक्ष गिरता प्रतिशत, महिलाओं की कमजोरी, सामाजिक स्थिति हमें सोचने के लिए बाध्य करते हैं। इस पर भी चिंतन करने की जरूरत है कि विवाह की सफलता आपसी सामंजस्य, विश्वास, प्रतिबद्धता, त्याग व समझ पर है और यह तब तक उत्पन्न नहीं होगा, जब तक हम विवाह की अपरिहार्य आवश्यकता को नहीं समझेंगे और उस रिश्ते के सौहार्दपूर्ण निर्वहन के पुरजोर प्रयास नहीं करेंगे।

(दि0 4.8.2008 को कॉम्पैक्ट' में प्रकाशित)

चुनाव कानून बदलने होंगे

लोकसभा में विश्वास मत परीक्षण के दौरान दुर्भाग्यपूर्ण घटनाक्रम के बाद वर्तमान व्यवस्था में बदलाव की आवश्यकता महसूस हुई है। भारतीय लोकतंत्र में हमें बार-बार कानून में बदलाव की आवश्यकता अनुभव होती है क्योंकि हमारे राष्ट्रीय चरित्र में सबलता की कमी है और हमारी स्वार्थपरकता चरम को भी पार कर चुकी है। संविधान निर्माताओं की भावना समझने के स्थान पर हम स्वाथ सिद्धि के लिए शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अर्थ निकालने में निपुण हैं, जिसके कारण कानून की भाषा और मन्तव्य को और अधिक संशोधित और परिमार्जित करना पड़ता है। इस पृष्ठभूमि में चुनाव कानून जन अपेक्षाओं की कसौटी पर खरे उतरें, इस दृष्टि से उनमें संशोधन करना समय की आवश्यकता है।

राजनैतिक दलबदल की बुराई मतदाताओं के साथ विश्वासघात और लोकतंत्र विरोधी है। चुनावी सुधारों के लिए दिनेश गोस्वामी कमेटी, विधि आयोग एवं संविधान की कार्य प्रणाली पर गठित राष्ट्रीय आयोग ने समय-समय पर कई संशोधनों की संस्तुति की। अभी तक स्वीकार न हुई संस्तुतियों में एक है, राजनैतिक दल के किसी भी प्रकार के विभाजन को कोई मान्यता न मिले व पार्टी व्हिप के विरुद्ध दिया जाने वाला मत अवैध हो। विचार करें कि 22 जुलाई की लोकसभा में पार्टी व्हिप के विरुद्ध सांसदों का मत अवैध होता और उसकी गिनती नहीं होती, तो क्या सांसदों के खरीद-फ़रोख़्त की बात उठती? किसी भी राजनैतिक दल के चिन्ह और नीतियों के सहारे चुनाव लड़ने के बाद अन्तरात्मा की कथित आवाज का नजरिया मान्य नहीं हो सकता है। दल के नेतृत्व के निर्णय से प्रत्येक सदस्य की बाध्यता की नीति कुल मिलाकर ठीक है और यदि सदस्य दल की नीति से सहमत नहीं है, तो उसे पुनः चुनाव लड़कर आना होगा-यही अनुशासन की मांग होगी। दलबदल कानून की अवहेलना करने वाले निर्वाचित सांसद/विधायक की सदस्यता स्वयं समाप्त समझी जानी चाहिए और इस संबंध में यह वर्तमान व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए कि स्पीकर से 15 दिन के अन्दर शिकायत करनी होगी।

आपराधिक पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को चुनावी प्रक्रिया से दूर रखना होगा। ऐसे व्यक्ति जिनके विरुद्ध न्यायालय द्वारा अभियोग के लिए चार्ज बना दिया गया है, जिनमें पांच वर्ष से अधिक की सजा हो सकती है, वे चुनाव लड़ने के लिए अर्ह नहीं होने चाहिए। हत्या, बलात्कार, डकैती व तस्करी के सजायाफ़्त व्यक्तियों को चुनाव लड़ने पर जीवन भर के लिए स्थायी रोक होनी चाहिए। राजनीतिज्ञों के विरुद्ध आपराधिक मामले विशेष अदालतों के माध्यम से यथाशीघ्र निर्णीत होने चाहिए। राष्ट्रीय आयोग ने इस संबंध में यह भी अच्छा सुझाव दिया है कि यह विशेष न्यायालय उच्च न्यायालय के स्तर के होने चाहिए, जिसकी अपील सीधे उच्चतम न्यायालय में होनी चाहिए, जैसा कि राष्ट्रीय पर्यावरण न्यायाधिकरण के मामले में है। इस विशेष न्यायालयों में कोर्ट कमिश्नरों के माध्यम से साक्ष्य रिकॉर्ड हो।

राष्ट्रीय आयोग के इस सुझाव पर भी कानून बनना चाहिए कि राजनीतिक दलों एवं चुनाव प्रत्याशियों के द्वारा व्यय की गयी राशि का उचित वैधानिक ऑडिट हो, जिसका प्रत्याशी, राजनीतिक दल व उनके शुभचिन्तकों के आयकर विवरणी से भी मिलान किया जाए। कानून में प्रत्येक राजनैतिक पद धारक को अपने तथा निकट के परिजनों की संपत्ति एवं दायित्वों का विवरण देना अनिवार्य होना चाहिए। कानून में निकट परिजनों की परिभाषा भी दी जानी चाहिए।

चुनाव के कानून में बदलाव तो आवश्यक है ही, किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है मतदाता का अधिक जागरूक होना ताकि वह अपने मत का प्रयोग विवेकपूर्ण ढंग से जाति, धर्म, संप्रदाय, क्षेत्र आदि संकीर्णताओं से उठकर करे, जिसमें दलों के स्थान पर प्रत्याशियों की योग्यता व ईमानदारी निर्णायक हो ताकि जनजीवन में त्याग और सेवा की भावना आ सके व राजनीति 'व्यवसाय' न बने, निर्धनता रेखा के नीचे जीवनयापन कर रही 25 फीसदी आबादी का भाग्य बदल सके और समृद्धि कुछेक व्यक्तियों तक ही सीमित न रहे। यदि मतदाता मत ही नहीं डालेंगे या अपने मत का प्रयोग समाज और राष्ट्रहित को ध्यान में रखते हुए नहीं करेंगे, तो चुने हुए कथित जनप्रतिनिधि और सरकारें कितनी लोकप्रिय होंगी इसका अनुमान हम सहज ही लगा सकते हैं।

(दि० 14.8.2008 को 'डी.एल.ए.' में प्रकाशित)

जागो उपभोक्ता जागो

उपभोक्ता असंगठित हैं और लंबे समय से शोषित होते चले आ रहे हैं। उनके द्वारा अपने उपभोक्ता अधिकारों की लड़ाई दीवानी न्यायालय में लड़ना एक महंगी, लंबी और जटिल प्रक्रिया थी। इसे दृष्टि में रखते हुए संसद ने उपभोक्ताओं के हितों के श्रेष्ठतर संरक्षण हेतु उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 में बनाया। किन्तु 22 वर्ष बाद भी उपभोक्ता की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं आ सका है। आखिर उसके लिए कौन उत्तरदायी है? क्या उपभोक्ता कानून में परिवर्तन होना चाहिए और विवादों के निपटाने के लिए जो व्यवस्था बनाई गयी है उसे और अधिक प्रभावी बनाना चाहिए?

अधिनियम के अंतर्गत उपभोक्ता विवादों के निपटारे के लिए त्रिस्तरीय व्यवस्था बनायी गयी-जिला उपभोक्ता फोरम, राज्य व राष्ट्रीय उपभोक्ता आयोग। जिला उपभोक्ता फोरम एवं राज्य उपभोक्ता आयोगों की कार्यप्रणाली के प्रति भी अधिकांश लोग आश्वस्त नहीं हैं। इनमें अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है जो प्रायः योग्यता पर कम और राजनैतिक सम्बद्धता व अन्य कारणों से अधिक होती है। उनकी सत्यनिष्ठा भी विवादों के परे नहीं होती है। उपभोक्ता न्यायालयों को सजा व अर्थदण्ड देने का व्यापक व महत्वपूर्ण अधिकार दिया गया है। अतः इन पर समुचित नियंत्रण की आवश्यकता निर्विवाद ही है। यदि हम इन्हें उच्च न्यायालय के प्रशासनिक नियंत्रण के अंतर्गत ले आयें तो संभवतः उनकी कार्यप्रणाली पर प्रभावी अंकुश रखा जा सकता है। जिला उपभोक्ता फोरम के अध्यक्ष एवं सदस्यों हेतु एक नया सर्विस कैडर बनना चाहिए, जिसमें नियुक्ति का अधिकार उच्च न्यायालय को राज्य सरकार के परामर्श के साथ हो, जो निर्धारित योग्यता और दक्षता के आधार पर चयन करे। सेवानिवृत्त जनपद न्यायाधीशों को जिला फोरम का अध्यक्ष बनाये जाने का प्रयोग कारगर सिद्ध नहीं हुआ है। फोरम व आयोगों में विशेषज्ञों को भी सम्मिलित करना होगा क्योंकि वे डॉक्टरों, इंजीनियरों व अन्य तकनीकी विषयों से संबंधित विवादों का भी निर्णय करते हैं।

उत्तर प्रदेश में राज्य आयोग के द्वारा उपभोक्ता मामलों का निस्तारण अत्यन्त शोचनीय है, जिसमें अब तक लगभग 51 हजार दायर मामलों में से कुल 18 हजार ही निर्णीत हुए और लगभग 33 हजार मामले अभी विचाराधीन हैं। कुल दायर मामलों के सापेक्ष आयोग ने 35 प्रतिशत मामले ही निस्तारित किये। यदि उपभोक्ताओं को वर्षों तक राज्य आयोग में प्रतीक्षा करनी पड़े तो यह स्थिति गंभीर है। उत्तर प्रदेश में जिला फोरमों में भी 31 दिसंबर, 2007 को 76167 मुकदमे लंबित थे। जिन जिलों से अधिक मामले हैं, वहाँ जिला फोरम की अधिक बेंच होनी चाहिए। वर्ष 2002 में कानून में हुए संशोधन के बाद राष्ट्रीय एवं राज्य उपभोक्ता आयोग सर्किट बेंचों के माध्यम से सुनवाई कर सकता है लेकिन इन आयोगों की बेंचों ने जाकर शायद ही सुनवाई की हो।

उपभोक्ता कानून के अंतर्गत केन्द्र, राज्य एवं जनपद स्तर पर उपभोक्ता परिषदों का गठन भी हुआ है, जिनका उद्देश्य उपभोक्ता के अधिकारों में संवर्द्धन और संरक्षण करना है। जैसे माल व सेवाओं की गुणवत्ता, मात्रा, क्षमता, शुद्धता, मानक व मूल्य के बारे में उन्हें सूचित किया जाए, जिससे कि अनुचित व्यापारिक व्यवहार से उपभोक्ता बच सके। कुकिंग गैस के सिलेण्डरों में कम गैस सप्लाई, एक्सपायर्ड खाद्य पदार्थों की बिक्री, बाजार में घटिया सामान की बिक्री आदि निर्विवाद बातें हैं परन्तु उपभोक्ता परिषद् कुछ भी नहीं कर सकती। मात्र 'उपभोक्ता दिवस' पर परिषदें समाचार-पत्रों तक ही सीमित दिखाई देती हैं। इन परिषदों को अपनी अधिक सार्थक व जनोन्मुखी भूमिका जनसहभागिता के साथ निभानी होगी।

उपभोक्ता कानून के अंतर्गत उपभोक्ता को स्वयं शिकायत करना आवश्यक नहीं है। मान्यता प्राप्त उपभोक्ता एसोसिएशन, जिसका कि वह सदस्य है अथवा नहीं, भी उपभोक्ता की ओर से शिकायत को प्रस्तुत कर सकता है। अतः हमें ऐसी समाज सेवी संस्थाओं को आगे बढ़ाना होगा।

कन्ज्यूमर हैल्पलाइन में कैलेण्डर वर्ष 2007 में 36826 कॉल आयीं। 22.55 करोड़ की लागत से शुरू की गई यह सुविधा कितनी समस्याओं को सुलझा सकी है, इससे सभी अवगत हैं। बदलते हुए उपभोक्तावाद के परिदृश्य में उपभोक्ता कानून और अधिक महत्वपूर्ण हो चुका है, जिसके अंतर्गत बैंकिंग, फाइनेंस, बीमा, ट्रांसपोर्ट, विद्युत आपूर्ति, होटल, हाउसिंग, मनोरंजन, समाचार आदि सभी सम्मिलित हैं। अतः हमें और अधिक सजग होना होगा और इस कानून में संशोधन भी तभी लाभप्रद होगा जब उपभोक्ता स्वयं जागेगा। उपभोक्ता को अपने अधिकारों के प्रति सचेत होना होगा और आवश्यकता पड़ने पर उनका प्रयोग उपभोक्ता न्यायालयों में जाकर भी करना होगा। विद्यालयों के माध्यम से भी उपभोक्ता अधिकारों के प्रति जन-जागरुकता उत्पन्न करनी होगी।

(दि० 18.9.2008 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

सोनू की मौत का उत्तरदायी कौन

'सोनू' का भाग्य 'प्रिन्स' और 'वन्दना' जैसा नहीं था! 100 घण्टे की खुदाई के बाद उस तक पहुँचने के पूर्व ही उसके प्राण पखेरू उड़ चुके थे। आखिर उसकी मौत की त्रासदी के लिए कौन उत्तरदायी है? भारत में मानव जीवन के साथ अमानवीयता की हद तक खिलवाड़ होता है। चाहे 'उपहार' सिनेमा में दर्शकों की मौत का मामला हो, या 'बी.एम.डब्ल्यू' कार से फुटपाथ पर सो रहे लोगों को कुचल देने का, सभी हमारी घोर लापरवाही को दर्शाती हैं। सीवर लाइन खोदते समय या बेसमेन्ट की खुदाई के समय निरीह मजदूरों का मिट्टी में दब जाना या फिर बहुमंजिली इमारतों से मजदूरों के गिरने की घटनाएँ भी प्रायः सुनाई पड़ती रहती हैं। प्रदूषित पेयजल से मण्डी सईद खाँ में हुए हादसे को आगरा के लोग भूले नहीं हैं, जीवनी मण्डी में भी जूता फैक्ट्री में लगी आग अनेकों मजदूरों को निगल गई थी। सड़कों पर भारी वाहनों से होने वाली बाईपास की दुर्घटनाएँ भी कम दुःखद नहीं हैं। आखिर ऐसी अमानवीय घटनाओं की पुनरावृत्ति क्यों होती है?

जब भी ऐसी घटना होती है, अपराधी को लापरवाही के लिए भारतीय दण्ड विधान की धारा 304-ए के अंतर्गत दोषी माना जाता है। किन्तु उसमें निर्धारित सजा उसकी लापरवाही के सापेक्ष में बहुत कम है। आपकी लापरवाही यदि अमूल्य मानव जीवन के नष्ट होने का कारण है तो आखिर कम दण्ड का प्राविधान कैसे न्यायोचित है? आवश्यकता इस बात की है कि हम दण्ड विधान के प्राविधानों में संशोधन करें ताकि लापरवाह लोगों को उचित दण्ड मिले और जनमानस में भय व्याप्त हो।

जहाँ पर सरकारी लापरवाही से किसी नागरिक को क्षति पहुँचती है, तो संबंधित सरकारी अधिकारी /कर्मचारी उसके लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होना चाहिए और क्षतिपूर्ति के भुगतान के लिए भी उसे व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी बनाने हेतु स्पष्ट विधिक प्राविधान किया जाना चाहिए। आखिर ऐसे सरकारी व्यक्ति ने जो लापरवाही दिखाई, उसके लिए प्रमुख रूप से वह स्वयं दोषी है व उसके नियोक्ता के रूप में सरकार भी। ऐसी व्यवस्था से सरकारी अधिकारी/कर्मचारियों अपने दायित्व निर्वाहन में अधिक सजग होंगे। इसके अतिरिक्त लापरवाह अधिकारियों/ कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही अवश्य होनी चाहिए। मात्र कुछ समय के लिए उनका निलम्बन कर प्रकरण की इतिश्री नहीं होनी चाहिए। कुछ कानूनों में सरकारी कर्मचारी /अधिकारी को भी सरकारी कार्य के नाम पर संरक्षण प्राप्त है, ऐसी विधिक व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए।

आवश्यकता इस बात की भी है कि हम स्वयं भी सजग रहें। चाहे लापरवाही सरकारी कर्मचारी की हो, किसी ठेकेदार की या किसी प्राईवेट एजेन्सी की हो, हमें इसके विरुद्ध आवाज उठानी चाहिए। चुने हुए प्रतिनिधियों पर भी अधिक निर्भरता उचित नहीं है। स्वयंसेवी व सामाजिक संगठनों को भी निष्पक्षता के साथ आगे बढ़ना चाहिए और दबाव बनाना चाहिए।

निर्माण कार्यों के दौरान क्या-क्या सावधानी रखी जानी चाहिए, इस सम्बन्ध में स्पष्ट व विस्तृत नीति निर्देश बनने चाहियें। उसमें सभी स्तर के अधिकारियों का उत्तरदायित्व का निर्धारण भी होना चाहिए। निर्माण स्थल पर कार्यकारी संस्था का नाम, कार्यावधि, निविदा मूल्य और प्रभारी अधिकारी आदि का विवरण प्रदर्शित होना चाहिए ताकि कोई भी व्यथित व्यक्ति उसके सम्बन्ध में अपनी शिकायत कर सके। सूचना अधिकार अधिनियम के अंतर्गत भी हमें अपने अधिकारों के निरन्तर प्रयोग के लिए तत्पर रहना चाहिए ताकि सरकारी गतिविधियों पर उचित अंकुश लग सके। मीडिया की भूमिका भी और अधिक प्रभावी बनानी होगी ताकि जहाँ कहीं भी मानव जीवन को खतरे में डालने वाली कोई गतिविधि हो तो उसका विरोध हो सके।

मानव जीवन से अधिक कुछ भी बहुमूल्य नहीं है। क्यों न हम सब मिलकर यह समन्वित प्रयास करें कि सरकारी व निजी एजेन्सियाँ निर्माण कार्यों में आवश्यक सावधानियाँ बरतें और जहाँ भी वह असावधान हों तो हम स्वयं आगे आने में किन्चित मात्र भी संकोच न करें अन्यथा कितने ही 'सोनू' काल-कवलित हो जायेंगे और उनके माता-पिता और परिजनों के क्रन्दन सुनने के लिए हम मूकदर्शक बने रहेंगे।

(दि० 14.10.2008 को कॉम्पैक्ट' में प्रकाशित)

नया किरायेदारी कानून बने

भवन स्वामियों में प्रायः यह धारणा व्याप्त है कि भवन को किराये पर उठाने का अर्थ है कि भवन सदैव के लिए उनके हाथ से निकल गया और वे किरायेदार से आय के लिए आशावान कम और परेशानियों के लिए अधिक आशंकित रहते हैं। इस पृष्ठभूमि में भवन स्वामी व किरायेदार के संबंधों को विनियमित करने वाले वर्तमान कानूनों में कमियाँ हैं। वर्ष 1882 के सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम में बदलाव करके भवन स्वामी और किरायेदारों के अधिकारों और दायित्वों को पुनः निर्धारित व परिभाषित करने की जरूरत है।

पुराने भवन रेंट कंट्रोल कानून की परिधि में आते हैं जिसका विधायन उत्तर प्रदेश में वर्ष 1947 में अस्थायी रूप से हुआ था व उसके उपरान्त वर्ष 1972 में नया कानून बना किन्तु वह जनअपेक्षाओं पर खरा नहीं है। अचल सम्पत्ति की कीमतों में अत्यधिक वृद्धि हो गई है किन्तु उसके उपरान्त भी भवन स्वामी किरायेदार से किराये में कानूनन वृद्धि न कर सके, यह कहाँ तक उचित व न्यायसंगत है? इन्हीं तथ्यों को देखते हुए माल्ये विश्वनाथ आचार्य के प्रकरण में उच्चतम न्यायालय ने महाराष्ट्र रेंट कंट्रोल कानून को अवैध घोषित कर दिया, जिसके क्रम में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भी रेंट कंट्रोल कानून के किराया वृद्धि पर रोक के प्राविधानों को अविधिक माना और राज्य सरकार से नया कानून बनाने की भी अपेक्षा की। योजना आयोग ने भी किराया वृद्धि पर नियंत्रण हटाने के लिए किराया कानून में सुधार के लिए कहा ताकि किराये हेतु आवासों में निजी निवेश हो। इससे पूर्व भी केन्द्र सरकार द्वारा मॉडल रेंट कानून बनाया गया किन्तु इस संबंध में उत्तर प्रदेश में कोई प्रगति नहीं हुई है। मौजूदा कानूनों में किरायेदारों की बेदखली की लंबी प्रक्रिया है, जिसे हमें त्वरित, अल्पव्ययी व प्रभावी बनाना होगा। आर्थिक उदारीकरण के दृष्टिगत इन कानूनों में आमूलचूल परिवर्तन करने होंगे, जिससे भवन स्वामियों एवं किरायेदार दोनों के ही अधिकार व दायित्व वर्तमान परिदृश्य के अनुरूप हों और कोई भी अनुचित लाभ न उठा सके। उचित होगा कि प्रत्येक किरायेदारी हेतु दोनो पक्षों के अधिकार एवं दायित्वों का सुस्पष्ट अभिलेख बने, जिसमें निर्धारित बिन्दुओं के अतिरिक्त किराये की संपत्ति का पूर्ण विवरण, मासिक किराया, मानचित्र, शर्तें आदि हों, जो अनिवार्यतः निबन्धित हो और जिस पर न्यूनतम स्टाम्प शुल्क देय हो। किराया न देने की स्थिति में किरायेदार की बेदखली अनिवार्य परिणाम हो। ऐसा अभिलेख पक्षकारों के मध्य कन्वल्सिव साक्ष्य माना जाए और अभिलेख निष्पादित न करना दंडनीय अपराध भी हो। बेदखली के मुकदमे से पूर्व नोटिस देने की अनिवार्यता समाप्त हो, कोर्ट फीस की देयता न्यूनतम हो और किराया अभिलेख के विपरीत किसी भी पक्षकार को दलील का कोई अधिकार न हो। पुराने भवनों के लिए किराया कम से कम किरायेशुदा भवन की वर्तमान कीमत का एक प्रतिशत होना चाहिए, जिसे कॉस्ट इन्डैक्स से जोड़ा

जाए, जिसके आधार पर किराया बिना किसी आवेदन-पत्र के स्वतः पुनरीक्षित हो, जैसा कि आयकर अधिनियम में पूंजीगत लाभ को गणना हेतु किया जाता है। किरायेदार को बिना किसी उचित आधार के प्राप्त सुविधाओं से वंचित करना भी आपराधिक कृत्य माना जाना चाहिए ताकि किरायेदार भी अनावश्यक रूप से भवन स्वामियों के द्वारा पीड़ित न किये जाएं।

भवन स्वामी व किरायेदार के मध्य मुकदमें विशेष रूप से गठित न्यायाधिकरण में चलें। ऐसे विशेष न्यायाधिकरण उच्च न्यायालय के प्रशासनिक नियंत्रण में रहें तथा मुकदमें का समरी ट्रायल हो, सिविल कोर्ट का क्षेत्राधिकार बाधित हो। निर्णयों के निष्पादन की प्रक्रिया भी सरल व प्रभावी हो और शुल्क जमा करने पर पुलिस द्वारा समयबद्ध सहयोग दिया जाना अनिवार्य हो। ऐसे न्यायाधिकरण के निर्णय के विरुद्ध अपील या रिवीजन की प्रक्रिया भी सरल हो ताकि समयबद्ध रूप से उनका त्वरित निस्तारण हो सके। अपील करने वो पक्षकार को वास्तविक वाद व्यय और जमानत भी पहले जमा करना चाहिए।

चूंकि किराया कानून बनाने का अधिकार राज्य विधानमंडल का है, अतः उत्तर प्रदेश शासन को प्रदेश के व्यापक हितों को देखते हुए 21वीं शताब्दी हेतु नया कानून बनाने की पहल करनी चाहिए। निर्विवाद रूप से ऐसा कानून बनाने के लिए दृढ़ राजनीतिक इच्छा की आवश्यकता भी होगी।

कहीं दिवास्वप्न न रह जाए

वर्ष 2002 में भारतीय संविधान में 86वां संशोधन हुआ, जिसके द्वारा बच्चों को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा का मूलभूत अधिकार (अनुच्छेद 21-क) सृजित हुआ। इसी क्रम में 6 वर्ष के उपरान्त हाल ही में केंद्रीय मंत्रिमण्डल द्वारा 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा संबंधी विधेयक के प्रारूप को स्वीकृति प्रदान की गयी है। निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा के अधिकार को स्वतंत्रता के 5 दशकों के उपरान्त हम मूलभूत अधिकार के रूप में समझ सके किन्तु उसका कानून अभी तक नहीं बना पाये। विधेयक के प्रारूप की स्वीकृति चुनावी एजेंडा अधिक लगता है।

यदि यह विधेयक कानून में भी बदल जाता है तो भी यक्ष प्रश्न यह है — क्या भारत में बच्चों की स्थिति में सुधार आ सकेगा? वस्तुस्थिति यह है कि मात्र कानून बनाना पर्याप्त नहीं होगा। कानून तो बाल श्रम के विरुद्ध भी है किन्तु ढाबों पर, घरों में, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में बच्चों को काम करते हुए देखा जा सकता है। कुछ समय पूर्व ही कुछ आयातकों ने निर्यात आदेश निरस्त कर दिया क्योंकि उत्पादों को बाल श्रमिकों द्वारा बनाया गया था। बच्चों का चौराहों पर भीख मांगना, सड़कों और कूड़े के ढेर से प्लास्टिक समेटना आखिर किस दशा को दर्शाता है। बाल अपराधियों की बढ़ती संख्या व उनमें पनपती नशे की आदत इस परिदृश्य को और अधिक भयावह बनाती है। बालिकाओं की स्थिति तो और अधिक विचारणीय है।

शिक्षा का क्षेत्र माफियाओं से घिरा हुआ है। सरकारी विद्यालयों में दुर्व्यवस्थाएं हैं, अध्यापक नियमित रूप से नहीं आते हैं और सरकारी धन का दुरुपयोग होता है। मिड-डे मील के नाम पर भी दुर्व्यवस्थाएं हैं। पब्लिक और सरकारी स्कूलों के शिक्षा स्तर का अंतर स्पष्ट है। यदि हमने बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान भी कर दी किन्तु वह स्तरीय नहीं है तो उसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है। बिना व्यापक सुधार के उच्चकोटि की शिक्षा संभव नहीं होगी। अतः शिक्षा के अधिकार को गुणवत्ता के साथ जोड़ा जाना समस्या के समाधान का अभिन्न अंग होना चाहिए।

शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण पर भी राष्ट्रव्यापी बहस की आवश्यकता है। यह स्पष्ट है कि सोसायटी और ट्रस्ट बनाकर विद्यालय और महाविद्यालय चलाये जा रहे हैं जो कि एक ओर कैपीटेशन-फीस ले रहे हैं और दूसरी ओर आयकर तक अदा नहीं कर रहे हैं और अच्छे लोग शिक्षा क्षेत्र में विनियोजन नहीं कर रहे हैं, तो क्यों न समाज हित में और शिक्षा के उच्च स्तर हेतु उसका निजीकरण सशर्त अनुमन्य किया जाए, जिससे खुलकर शिक्षा के क्षेत्र में विनियोजन हो और उच्च

गुणवत्ता के प्रतिमान स्थापित हों। शिक्षा के निजीकरण के प्रति हमें अपने संकीर्ण दृष्टिकोण में बदलाव लाना होगा। भारत की 25 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी के नीचे जीवनयापन कर रही है, जिसके लिए दो जून की रोटी की व्यवस्था उसकी पहली बुनियादी आवश्यकता है और जिसके लिए परिवार के बच्चे भी लगे रहते हैं। गरीबी के चलते कुपोषण और बीमारियों से भी लाखों बच्चे प्रतिवर्ष काल के ग्रास बन जाते हैं। अतः ऐसे परिवारों के लिए अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा के अधिकार का क्या महत्व है, जब तक कि हम पहले उनके लिए रोटी-रोजी की व्यवस्था सुनिश्चित न कर दें।

हमारा भविष्य बच्चे हैं, जिन्हें हमको अच्छा नागरिक बनाना है, नैतिक व सामाजिक मूल्यों को उनमें प्रवाहित करना है। लोकतंत्र की सफलता की परिकल्पना बिना शिक्षित, समर्पित एवं कर्तव्यनिष्ठ नागरिकों के एक दिवास्वप्न ही है। आईये, हम सब लोग मिलकर बच्चों के निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा के संवैधानिक अधिकार को एक वास्तविकता बनाने के लिए अपनी-अपनी भूमिका को सक्रियता के साथ अदा करें।

(दि० 15.11.2008 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

खण्डपीठ की राह ताकता आगरा

आगरा का इतिहास गरिमामय रहा है। यह मुगलों की राजधानी और भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की महत्वपूर्ण कड़ी रहा। वर्ष 1833 से लेकर 1866 तक आगरा में 'सदर दीवानी अदालत' और 'सदर निज़ामत अदालत' थीं, जो कि उच्च न्यायालय के समकक्ष थीं। वर्ष 1866 में महारानी विक्टोरिया ने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लिए आगरा में एक पृथक उच्च न्यायालय की स्थापना की, जिसके मुख्य न्यायाधीश सर वॉल्टर मॉर्गन तथा पाँच अन्य न्यायाधीश 17 मार्च, 1866 को नियुक्त हुए। यह नवस्थापित उच्च न्यायालय 11 जून, 1866 को कार्यरत हुआ और उसने तीन वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य किया।

स्वतन्त्रता के उपरांत केन्द्र सरकार ने वर्ष 1948 में उ.प्र. उच्च न्यायालय (समामेलन) आदेश निर्गत किया, जिसमें यह अधिकार दिया गया कि इलाहाबाद उच्च न्यायालय की बैन्चें ऐसे स्थानों पर भी बैठेंगी जिन्हें मुख्य न्यायाधीश द्वारा प्रदेश के राज्यपाल के अनुमोदन से निश्चित किया जाये। संसद द्वारा बनाये गये 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956' के द्वारा भी राष्ट्रपति द्वारा स्थायी बैन्चें राज्यपाल एवं मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से स्थापित की जा सकती हैं। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एवं डिवीज़न कोर्ट्स ऐसे स्थानों पर भी बैठ सकते हैं जो कि मुख्य न्यायाधीश द्वारा राज्यपाल के अनुमोदन से निश्चित किये जायें।

समय-समय पर वादकारियों के हितों की रक्षार्थ एवं न्याय को सुगम, सरल व मितव्ययी बनाने की दृष्टि से आगरा में उच्च न्यायालय की खण्डपीठ की माँग उठती रही। वर्ष 1956 में आगरा में सम्पन्न बारहवीं उत्तर प्रदेश लॉयर्स कॉन्फ्रेंस में, जिसकी अध्यक्षता श्री के.एम. मुन्शी (राज्यपाल) द्वारा की गई थी, प्रस्ताव पारित हुआ कि यहां उच्च न्यायालय की खण्डपीठ बनाई जाए। वर्ष 1980-81 में आगरा में खण्डपीठ के आन्दोलन ने उग्र रूप धारण किया, जिसके फलस्वरूप उत्तर प्रदेश शासन ने केन्द्र सरकार से खण्डपीठ के लिए 'स्थान' को निर्धारित करने का अनुरोध किया। इस पर सितम्बर 1981 में 'तीन सदस्यीय जसवन्त सिंह आयोग' का गठन किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट अप्रैल, 1985 में दी, जिसमें पश्चिमी उत्तर प्रदेश के 18 जनपदों के लिए आगरा में 'स्थायी खण्डपीठ' व नैनीताल और देहरादून में सर्किट बैन्चों की संस्तुति की गई। मगर दुर्भाग्यपूर्ण यह रहा कि केन्द्र सरकार ने आयोग की रिपोर्ट को लागू करने के बजाय इसे अक्टूबर 1986 में उ.प्र. शासन और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को टिप्पणी के लिए भेज दिया।

इस आयोग का गठन केन्द्र सरकार ने किया था। आयोग ने चार वर्ष तक सभी पक्ष से परामर्श लिया उसके बाद जो रिपोर्ट बनाई उसमें कहा गया कि केन्द्र को केन्द्र सरकार को आगरा में खण्डपीठ खण्डपीठ की स्थापना करनी चाहिए। हालांकि वोटों की राजनीति के कारण केन्द्र सरकार इस संबंध में कोई निर्णय नहीं ले सकी। संसद और उत्तर प्रदेश के विधान मण्डल में खण्डपीठ का मामला समय-समय पर गूंजता रहा है। संविधान के अनुच्छेद-39क में राज्य के लिए यह स्पष्ट निदेश है कि “राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र इस प्रकार काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो” कोई भी नागरिक न्याय पाने के अवसर से वंचित न रह जाए। क्या कोई गरीब और दलित व्यक्ति लम्बी और खर्चीली यात्रा कर अपनी कानूनी लड़ाई लड़ सकता है? खण्डपीठ की स्थापना न करना संविधान की भावना का सीधा उल्लंघन है। हम ‘कल्याणकारी राज्य’ की स्थापना की बात करते हैं, कमजोर से कमजोर व्यक्ति को सुलभ, अल्पव्ययी और सुगम बनाने का अवसर आता है, तो हम अपने दायित्व का निर्वाहन नहीं करते हैं। अब समय आ गया है जब उत्तर प्रदेश शासन वर्ष 1956 से लम्बित लोकप्रिय एवं न्यायोचित इस मांग पर निर्णायक भूमिका अदा करे। सरकारें आती हैं और चली जाती हैं किन्तु जो सरकार जनता के हितों के लिए निर्णय लेती है, उसे शताब्दियों तक याद किया जाता है। वर्तमान की कानूनी स्थिति यह है कि यदि हम उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सहमत कर लें, तो केन्द्र सरकार की बिना किसी भूमिका के सर्किट बेंच आगरा में तुरन्त स्थापित व कार्यरत हो सकती है। तब कालान्तर में स्थायी बेंच स्थापित होने में भी बाधा नहीं आयेगी।

डी.एल.ए. में प्रकाशित

सूचना अधिकार कानून का चौथा पड़ाव

नागरिकों को सूचना का अभूतपूर्व अधिकार देने वाले सूचना अधिकार अधिनियम, 2005 दिनांक 12 अक्टूबर, 2005 को प्रभावी हुआ था। इसकी चार वर्ष की यात्रा कैसी रही, यह प्रश्न आज विचारणीय है। निःसन्देह हमारा सूचना अधिकार अधिनियम अत्यन्त व्यापक है और विश्व के किसी भी सूचना अधिकार अधिनियम से बेहतर है किन्तु क्या वस्तुतः भ्रष्टाचार पर अंकुश लग सका और सरकारी व अर्द्धसरकारी संस्थाओं की कार्यप्रणाली व निर्णयों में पारदर्शिता आ सकी? क्या यह अधिनियम अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सका?

भ्रष्टाचार रूपी विष अब शासनतंत्र के रक्त में पूरी तरह से प्रवाहित है जो जलप्रपात की भांति शीर्ष नेतृत्व से निम्नतम स्तर—अमीन, लेखपाल, संदेशवाहक और लिपिक तक आ पहुंचा है। हमारी यह सोच कि सूचना का अधिकार रामबाण की भांति रातों-रात देश को भ्रष्टाचार मुक्त कर देगा, मिथ्यापूर्ण ही है। यही नहीं, कोई भी शस्त्र कितना ही कारगर क्यों न हो, उसकी सफलता चलाने वाले के ऊपर भी निर्भर रहती है। जहाँ 25 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या निर्धनता की रेखा से नीचे रहती है और अन्य का ध्यान भी अपनी आजीविका अर्जन पर ही केन्द्रित रहता हो और निर्वाचित प्रतिनिधि भी अपने दायित्व के निर्वाहन में पीछे हों, वहाँ आखिर भ्रष्टाचार से मुक्ति या पारदर्शिता के प्रयास के लिए सूचना अधिकार रूपी शस्त्र का कारगर उपयोग कौन कर सकेगा? यही नहीं, अधिनियम को लागू करने वाले अधिकारियों की मानसिकता भी दूषित हो और उनका मानस सूचनाएँ देने के स्थान पर सूचना आवेदकों के लिए बाधाएँ उत्पन्न करना हो, तो सूचनाओं को प्राप्त करने का कार्य और भी अधिक जटिल और असाध्य हो गया है।

इस अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन में यह भी बड़ी बाधा है कि इस अधिनियम का प्रचार-प्रसार के प्रयास नगण्य रहे हैं। अधिकांश व्यक्ति अधिनियम के प्राविधानों का प्रयोग करना नहीं जानते हैं। वे नहीं जानते हैं कि प्रार्थना-पत्र शुल्क का भुगतान किस प्रकार किया जाय और प्रार्थना-पत्र कैसे लगाया जाय। ऐसी स्थिति में सूचनाएँ आखिर कैसे प्राप्त होंगी!! वह राज्य सरकार हो या केन्द्र सरकार, अधिनियम के समुचित प्रचार-प्रसार न करने के लिए दोनों ही दोषी हैं और प्रचार-प्रसार किये जाने के संसदीय मन्तव्य का उल्लंघन है (धारा 26)।

सभी जानते हैं लोक प्राधिकारियों द्वारा सूचनाएँ 30 दिन की निर्धारित समयावधि में नहीं दी जा रही हैं और जो सूचनाएँ दी जाती हैं वे भी सामान्यतः अधूरी होती हैं। सूचना अधिकार में दिये जा रहे अभिलेखों की प्रतियाँ भी अप्रमाणित व अस्पष्ट होती हैं। आवेदकों को सूचनाएँ उनके पते पर प्रेषित करने के स्थान पर उन्हें कार्यालय में बुलाने हेतु पत्र भेजे जाते हैं, जो विधि विरुद्ध हैं। इसी प्रकार प्रतिलिपि शुल्क सूचित करने के स्थान पर आवेदकों को कार्यालय में सम्पर्क करने के लिए भी कहा जाता है ताकि सूचना देने वाले लिपिक को सुविधाशुल्क मिल सके। जनसूचना अधिकारियों की कारगुजारी तो देखिये—एक प्रकरण में तो भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण ने आवेदक के निजी विवरण जैसे कि 'किस डॉक्टर से वह इलाज कराता है' ही पूछ डाला। ऐसे ही जब एक प्रार्थी

द्वारा एक ही विभाग को अलग-अलग विषयों पर तीन-चार प्रार्थना-पत्र भेजे गये, तो जनसूचना अधिकारी ने यह तक लिख दिया कि 'प्रार्थी तो सूचना प्रार्थना-पत्र देने का आदी है'। एक अन्य प्रकरण में जब नोएडा अथॉरिटी से पत्रावली पर उपलब्ध समस्त दस्तावेजों की प्रतियाँ मांगी गईं तो उसने प्रतिलिपियाँ देने के स्थान पर कहा कि 'पत्रावली में अधिक कागज हैं इसलिए आकर देखें और कागज बताएँ'। आखिर जब आवेदक ने पूर्ण पत्रावली की प्रति ही मांग ली तो सूचना अधिकारी को यह कहने का अधिकार ही कहाँ शेष रह जाता था? कुल मिलाकर यह सामने आया है कि अनेक मामलों में जनसूचना अधिकारियों की दूषित और टालमटोल वाली मानसिकता है और उसके रहते सूचना अधिकार को अमलीजामा पहनाना आखिर कितना कठिन है!!

इसी क्रम में एक अन्य ज्वलन्त उदाहरण विचारणीय है। उत्तर प्रदेश की विधान सभा एवं विधान परिषद् के अध्यक्षों द्वारा वर्ष 2007 में सूचना नियमावलियाँ बनायी गईं और उनमें आश्चर्यजनक रूप से सूचना हेतु आवेदन-पत्र का शुल्क 10/- रुपये के स्थान पर 500/- रुपये निर्धारित किया गया है, जबकि लोकसभा, राज्यसभा, उच्चतम न्यायालय, केन्द्र सरकार और अनेकों राज्य सरकारों /विधान मण्डलों द्वारा यह आवेदन शुल्क मात्र 10/- रुपये ही निर्धारित किया गया है। आश्चर्यजनक रूप से इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा भी आवेदन-शुल्क 500/- रुपये निर्धारित है और प्रतिलिपि शुल्क 2/- प्रति पृष्ठ के स्थान पर 15/- रुपये है। ऐसी जनविरोधी नियमावलियाँ किसका संकेतक हैं? क्या ये नियमावलियाँ सूचना अधिकार अधिनियम की भावना एवं प्राविधानों को दृष्टिगत रखते हुए नहीं बनानी चाहिए थीं?

धारा 4 के अनुसार सभी लोक प्राधिकारियों को अपनी वैबसाइटों पर समस्त सूचनाओं को अपलोड करना था किन्तु यदि हम वैबसाइटें देखें, तो उनमें या तो सूचनाएँ हैं ही नहीं या फिर अधूरी हैं। ये वैबसाइटें मात्र औपचारिकतावश बनाई गईं हैं। आखिर सूचनाओं को वैबसाइट पर देने में क्या कठिनाई है? क्या इसमें लोक प्राधिकारियों द्वारा सूचनाओं को छुपाने की मानसिकता नहीं झलकती है?

यदि जनसूचना अधिकारी निर्धारित समयावधि में सूचना नहीं देते हैं तो विभागीय अधिकारी के समक्ष प्रथम अपील आवेदक द्वारा की जाती है किन्तु यह पाया गया है कि अपीलीय प्राधिकारी भी अपीलों पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते हैं, आखिर क्यों? इसी कारण से सूचना आवेदकों को द्वितीय अपील या शिकायत धारा 19 के अंतर्गत केन्द्रीय /राज्य सूचना आयोग के समक्ष करने के लिए विवश होना पड़ता है, जहाँ पर अब उनकी लम्बी कतार हैं। महीनों-महीनों तक प्रार्थना-पत्रों और अपीलों पर तिथि नियत नहीं होती है और आवेदकों को उसकी पैरवी में और परेशानी झेलनी पड़ती है। सूचना आयोगों की कार्यप्रणाली भी उनकी क्षमता से अधिक प्रकरणों के कारण प्रभावित है। यदि सूचना आवेदकों को सूचना लेने के लिए अपीलें और शिकायत करनी पड़े और इस प्रक्रिया वर्षों लग जायें तो फिर सूचना प्राप्त करने का उद्देश्य ही कहीं खो जाता है। जनसूचना अधिकारियों, अपीलीय प्राधिकारियों और सूचना आयोगों को अपनी कार्यप्रणाली को प्रभावी बनाना होगा और उसके लिए नये-नये तरीके ढूँढने होंगे और उन्हें त्वरित रूप से सूचना प्रार्थना-पत्रों, अपीलों और शिकायतों का निस्तारण अधिनियम में अर्न्तनिहित भावना के दृष्टिगत करना ही होगा। सूचना आयोगों द्वारा अपनी वार्षिक रिपोर्ट भी संसद

या संबंधित विधान मण्डल में धारा 25(4) के होते हुए भी नहीं रखी जाती है, अतः उनकी कार्यप्रणाली चिन्तन और समीक्षा का विषय नहीं बन पा रही है। उत्तर प्रदेश के सूचना आयोग द्वारा वर्ष 2006-07 व 2007-08 की रिपोर्ट शासन को तो भेज दी गई है लेकिन शासन ने उसे विधान मण्डल के समक्ष नहीं रखा है। आखिर क्यों? क्या उस पर सदन में चर्चा आवश्यक नहीं है?

अधिनियम की धारा 6(1) में इलैक्ट्रॉनिक माध्यम (ई-मेल) से भी प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने का प्राविधान दिया गया है किन्तु किसी भी लोक प्राधिकारी द्वारा यह सुविधा नहीं दी गई है। यदि हम आयकर विभाग, रजिस्ट्रार ऑफ कम्पनीज और यहाँ तक कि सुप्रीम कोर्ट में भी अपने अभिलेख इन्टरनेट के माध्यम से भेज सकते हैं अर्थात् 'ई-फाइलिंग' कर सकते हैं, तो केन्द्र सरकार व अन्य बड़े विभाग भी सूचना प्रार्थना-पत्र ई-मेल के माध्यम से क्यों नहीं स्वीकार कर सकते हैं?

सूचना अधिकार भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए एक कारगर शस्त्र है। हमें इस अधिकार का प्रयोग कर जनहित में सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए करना होगा और इन सूचनाओं का उपयोग प्रशासनिक अनियमितताओं, मनमानेपन के खुलासे और अफसरशाहों /निर्वाचित प्रतिनिधियों पर अंकुश लगाने के लिए करना होगा। हमें यह भलीभांति समझना होगा कि मात्र सूचना प्राप्त करना अपने आप में भ्रष्टाचार से हमें मुक्त नहीं कर पायेगा अपितु हमें प्राप्त सूचनाओं का उपयोग वरिष्ठ अधिकारियों, न्यायालयों व पुलिस के समक्ष भ्रष्टाचार को सिद्ध करने के लिए करना होगा। सूचना अधिकार के प्रचार-प्रसार के लिए गैर-सरकारी संगठनों को सक्रिय भूमिका अदा करनी होगी और उसके लिए हम सरकारी तंत्र पर निर्भर न रहें। स्वैच्छिक संगठनों को आगे आकर समर्पित 'वॉलेन्टियर्स' की टीम बनानी होगी जो हर स्तर पर सहायता देने के लिए सहर्ष तत्पर हो, उपभोक्ता हैल्पलाइन की भांति सूचना अधिकार हैल्पलाइन की सुविधा भी प्रत्येक जनपद में सृजित होनी चाहिए। सूचना अधिकार को विद्यालयों के पाठ्यक्रम का भाग भी बनाना होगा और सूचना अधिकार की पालना प्रशासनिक समीक्षा बैठकों का बिन्दु बनाना होगा। जहाँ कहीं भी यदि सूचना अधिकार अधिनियम के प्राविधानों को लेकर कोई भ्रम या शंका उत्पन्न होती है तो उस पर सूचना आयोगों को यथाशीघ्र अपना निर्णय देना चाहिए।

कुल मिलाकर हमें अपने लोकतन्त्र को बचाने के लिए सूचना अधिकार अधिनियम को सफल बनाना है और शासकीय गतिविधियों में अधिकतम पारदर्शिता सुनिश्चित करानी होगी, जिसके लिए हमें दृढ़संकल्पित होना होगा, तभी हमारा भ्रष्टाचार-मुक्त समाज का स्वप्न साकार हो सकेगा।

(दि० 12.10.2009 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

“महिलाओं पर हिंसा कब तक?”

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने एक दशक पूर्व प्रत्येक वर्ष 25 नवम्बर को महिलाओं के विरुद्ध होने वाली हिंसा की समाप्ति हेतु अंतर्राष्ट्रीय दिवस मनाने का निर्णय लिया, जिसका उद्देश्य था कि सरकारें, अंतर्राष्ट्रीय संगठन और गैर-सरकारी संगठन इस समस्या के प्रति जन-जागृति उत्पन्न करें क्योंकि पूरे विश्व में महिलाएँ घरेलू तथा अन्य प्रकार की हिंसाओं से कराह रही हैं और उनका दुःख व पीड़ा पूरी तरह से समाज के सामने भी नहीं आ पाती हैं।

वस्तुतः महिलाओं के प्रति व्याप्त हिंसा मात्र अविकसित और विकासशील देशों में ही नहीं है अपितु विकसित देशों में भी है। ‘यत्र नारयस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता’ वाले भारतीय परिप्रेक्ष्य में महिलाओं के प्रति हिंसा की यह प्रवृत्ति और भी अधिक गंभीर है। ‘नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो’ के वर्ष 2007 के आंकड़ों पर दृष्टिपात करें, तो महिलाओं के प्रति अपराधों की संख्या कुल पंजीकृत अपराधों का 9.3 प्रतिशत है, जिसमें से पति एवं परिजनों द्वारा हिंसा के पंजीकृत मामले 75930 थे। ऐसा लगता है कि समाज में महिलाएँ ‘ताड़न की अधिकारी’ हैं की विचारधारा बहुत गहरी पैठ बन गई है और पुरुष अपनी प्रधानता की भावना को छोड़ना ही नहीं चाहते हैं। ब्यूरो की रिपोर्ट से दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह भी उजागर होता है कि कुल पंजीकृत अपराधों की तुलना ‘कन्विकशन रेट’ बहुत कम है, जैसे बलात्कार के मामलों में कुल 26.4 प्रतिशत, दहेज-मृत्यु के मामलों में 33 प्रतिशत, पति एवं परिजनों के द्वारा की जा रही हिंसा के मामलों में 20.9 प्रतिशत है, जो पुलिस द्वारा अपराधों की विवेचना एवं न्यायिक व्यवस्था पर एक प्रश्नचिन्ह है!

महिलाओं में शिक्षा का प्रसार हिंसा को रोकने के लिए पहला आवश्यक कदम है क्योंकि महिलाओं का एक बड़ा भाग साक्षर ही नहीं है जैसे कि उत्तर प्रदेश में महिलाओं की साक्षरता दर केवल 53.7 प्रतिशत ही है और वे स्वावलम्बी भी नहीं हैं, उनकी निर्भरता उनके परिवार और पति पर है। बालिका भ्रूण हत्या की बात भी समय-समय पर हम उठाते हैं किन्तु समाज में उनका घटता हुआ प्रतिशत इसका स्पष्ट संकेतक है कि महिलाओं को हम समानता का दर्जा नहीं देना चाहते हैं। परिवार में पुत्री के जन्म पर पुत्र के समान हर्ष नहीं होता है, जो हमारी बुनियादी सोच में कमी को दिखाता है। टीवी चैनल पर प्रसारित होने वाले ‘बालिका वधू’, ‘उतरन’, ‘न आना इस देश लाडो’, ‘भाग्यविधाता’ आदि आदि अनेक धारावाहिक समाज में महिलाओं के प्रति हमारी संकुचित सोच को ही प्रस्तुत करते हैं। यदि परिवार या पति महिलाओं को प्रताड़ित करे और उन्हें द्वितीय श्रेणी का जीवनयापन करना पड़े, तो उन्हें सम्मान के साथ जीने का अधिकार कैसे प्राप्त होगा?

महिलाओं का समाज में जब तक दर्जा नहीं बढ़ेगा, तो उन पर हिंसा तो निरन्तर होती रहेगी, चाहे हम कितने ही कानून क्यों न बना लें! वह चाहे भारतीय दण्ड विधान का नया प्राविधान धारा 304-बी हो या 498-ए हो या घरेलू हिंसा अधिनियम-2005, वे सभी अपर्याप्त ही सिद्ध हुए हैं। हम ‘दुल्हन ही दहेज है’ को दीवारों पर लिखवाते हैं, दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 विगत लगभग 5 दशकों से भी प्रभावी है पर बिना दहेज के दुल्हन नहीं लेना चाहते हैं और दहेज कम मिलने पर

उत्पीड़ित करने में भी पीछे नहीं रहते हैं। वास्तव में विवाह हमारे यहाँ एक सामाजिक नहीं आर्थिक सिद्धान्त है। विचित्रता देखिये कि दहेज के मामलों में महिलाएँ ही महिलाओं पर अत्याचार करती हैं, जो स्वयं भी उस कष्टप्रद प्रक्रिया से गुजरी होती हैं। 'सास भी कभी बहू थी'— इस पर आज की सासें क्या विचार करने की ज़हमत नहीं उठाना चाहती हैं, शायद उनकी सोच यह होती है कि 'हमारी सास ने भी तो हमें परेशान किया था'।

विवाह संस्था में उत्पन्न हुई विकृतियों को भी हमें दूर करना होगा। यदि कोई विवाह नहीं चल सकता है तो उसे जबरदस्ती चलाने का प्रयास नहीं होना चाहिए और न ही उसके कारण महिलाओं को हिंसा का शिकार बनना चाहिए। उसके लिए तलाक और पुनर्विवाह के प्रति सोच में परिवर्तन लाना होगा और पश्चिमी देशों की भांति हमें पुनर्विवाह को स्वीकार करना ही होगा अन्यथा महिलाएँ असफल और अव्यवहारिक विवाह-बन्धन की चक्की में निरन्तर पिसती ही रहेंगी। तलाकशुदा युवतियों के प्रति 'सैकेण्ड हैण्ड गुड्स' की सामाजिक विचारधारा को भी बदलना होगा, जिसका अर्थ भारतीय विवाह संस्था को कमजोर करना नहीं होगा, अपितु उसका उद्देश्य असफल विवाहों के अनावश्यक बोझ को ढोने से रोकना होगा किन्तु सामाजिक सोच में ऐसा परिवर्तन कानून से नहीं हो सकेगा बल्कि उसके लिए समाज को आगे आना होगा। हाँ, परिवार न्यायालयों को अधिक सक्रिय व त्वरित न्याय देने वाला भी बनाना होगा।

यदि हम महिलाओं को समानता देना चाहते हैं तो आरक्षण की क्या आवश्यकता है? ग्राम पंचायतों में महिलाओं का आरक्षण एक मखौल है, जहाँ उनके पति ही प्रधान बने रहते हैं और महिलाएँ घर के चौके-चूल्हे में ही घिरी रहती हैं। कुल मिलाकर आरक्षण महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं ला सकेगा और यदि लाभ मिला भी, तो वह समाज की गिनती की कुछ ही महिलाओं को मिल सकेगा और सामान्य महिलाओं की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हो सकेगा।

समाज की प्रगति के लिए महिलाओं की भागीदारी, उनका ससम्मान जीवन, सशक्तिकरण और उनकी आत्मनिर्भरता एक आवश्यक पड़ाव है किन्तु उसे हम तब तक प्राप्त नहीं कर सकते हैं जब तक हम महिलाओं के प्रति अपनी सोच में आमूलचूल परिवर्तन नहीं लाते हैं और उन्हें समानता देने के लिए सहर्ष तत्पर नहीं होते हैं। इसके लिए हमें अपनी कथनी और करनी के अन्तर को भी मिटाना होगा। मात्र दिवस मनाने से महिलाओं के प्रति युगों से चली आ रही हिंसा न तो समाप्त नहीं हो सकेगी और न ही बदलाव आ सकेंगे।

(दि० 25.11.2009 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

चहुँ ओर मानवाधिकार उपेक्षित

जब कभी मानवाधिकारों का प्रसंग आता है तो हम प्रायः चर्चा करते हैं अभियुक्तों या कैदियों के मानवाधिकारों की या फिर पुलिस हिरासत में लिए गये व्यक्तियों के उत्पीड़न की, किन्तु हमारे चहुँ ओर हो रहे मानवाधिकारों के हनन पर न तो हम गंभीरता से चिंतन करते हैं और न ही कोई विशेष चर्चा, जो कदाचित मानवाधिकारों के प्रति हमारी उपेक्षा को रेखांकित करती है।

मानवाधिकारों का अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, स्वतंत्रता, समानता और सम्मान निहित है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 में “जीने के अधिकार” से तात्पर्य सम्मान के साथ जीना है न कि पशु रूप में अपना जीवनयापन करना है।

हम नगरों की मलिन बस्तियों पर विचार करें, जहाँ निरीह गरीब रहते हैं और ऐसी अनेकों बस्तियाँ नालों के सहारे भी हैं और जहाँ गन्दे पानी की निकासी न होने के कारण प्रायः जलभराव बना रहता है, बच्चों के खेलने की जगह नहीं होती है, अस्वस्थकर वातावरण होता है। यद्यपि प्रदेश के प्राधिकरणों ने किसानों की हजारों हैक्टेयर भूमि अब तक ले ली है, किन्तु शहरों में मलिन बस्तियों की संख्या निरन्तर बढ़ी ही है। राष्ट्रीय आवास नीति (2007) में उल्लेख है कि कुल गरीबों की जनसंख्या के 26.7 प्रतिशत व्यक्ति शहरों में ही रहते हैं, जहाँ 2.47 करोड़ भवनों की कमी अनुमानित है, जिनमें 99 प्रतिशत तो ‘आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों’ की ही है। यह आंकड़े गरीबों के लिए आवास की बेहद कमी के दर्पण हैं। देश में लाखों लोग सड़कों और फुटपाथ पर भी सोते हैं। क्या गरीबों और उनके बच्चों को अच्छे, साफ-सुथरे और सुरक्षित वातावरण में सांस लेने और जीने का मानवाधिकार प्राप्त नहीं है?

स्वास्थ्य के क्षेत्र पर भी यदि हम विचार करें, तो प्रदेश में सरकारी अस्पतालों की स्थिति प्रायः शोचनीय है। सरकारी डॉक्टर प्राइवेट प्रैक्टिस करते हैं, वे मरीजों को अस्पतालों में इलाज कम और नर्सिंगहोमों में अधिक देखते हैं। अस्पतालों की दवाईयाँ बाजारों में बिकती हैं और अस्पताल की मशीनें खराब रहती हैं। क्या कोई गरीब व्यक्ति अपने माता-पिता की ‘बाईपास सर्जरी’ या बड़ी बीमारी का इलाज कराने की सोच सकता है? क्या गरीबों को अपना और अपने परिजनों के इलाज कराने का अधिकार नहीं है? कैसे मानवाधिकार, जब कि अस्पतालों का पैसा डॉक्टरों, अधिकारियों, सप्लायर्स और ठेकेदारों की जेब में होता है!! क्या स्वास्थ्य के क्षेत्र में शासनतंत्र की घोर उपेक्षा मानवाधिकारों का उल्लंघन नहीं है?

शिक्षा के क्षेत्र को भी देखें। उत्तर प्रदेश की 42.63 प्रतिशत जनसंख्या तो साक्षर भी नहीं है। सरकारी और स्थानीय निकायों के स्कूल भ्रष्टाचार में प्रायः लिप्त हैं। रिश्वत, भाई-भतीजावाद, जातिवाद के बल पर अयोग्य व्यक्ति शिक्षक और प्राचार्य बन जाते हैं, जो स्कूल कम जाते हैं या पढ़ाने की खानापूर्ति करते हैं। जनता की गाढ़ी कमाई का पैसा शिक्षा के नाम पर बर्बाद होता है और

गरीब गुणवत्ता वाली शिक्षा से वंचित रह जाता है। स्वतंत्रता के 62वें वर्ष बाद निःशुल्क शिक्षा का कानूनी अधिकार संसद देती है लेकिन कैसी शिक्षा का? क्या उसकी तुलना मिशनरी और पब्लिक स्कूलों की शिक्षा से की जा सकेगी? मिड-डे मील में भी हेराफेरी के समाचार आते हैं। सभी नागरिकों को शिक्षित हो जीवन जीने का मानवाधिकार क्या नहीं है? पूर्व एटोर्नी जनरल सोली सोराबजी ने अभी हाल में टिप्पणी की कि “भ्रष्टाचार के दोषियों को मानवाधिकारों का अतिक्रमणकारी माना जाना चाहिए”।

स्वतंत्र भारत में महिलाओं की स्थिति पर भी विचार करें। गरीब महिलाएँ घर से बाहर बाईयों के रूप में काम करती हैं और घर पर वापिस आकर अपने शराबी और नशाखोर पतियों की शारीरिक हिंसा का शिकार बनती हैं। पुरुष प्रधान समाज, महिलाओं की अशिक्षा और आर्थिक स्वावलम्बन का अभाव आदि ऐसे अनेक कारण हैं जिसका परिणाम यह है कि वे आत्मसम्मान से अपना जीवनयापन नहीं कर पाती हैं। महिला आरक्षण की बात तो हम करते हैं किन्तु क्या हम वास्तव में महिलाओं को आत्मसम्मान से जीने का मानवाधिकार दे सके हैं?

भारतीय रेल के ‘जनरल क्लास’ के डिब्बों में सफर करने वालों के विषय में जरा सोचें। वे रेल के डिब्बों में लगभग पशुओं की तरह भर जाते हैं, जहाँ हवा-पानी नहीं होती और कभी-कभी तो डिब्बे की छत पर भी सवारी के लिए बाध्य होते हैं। क्या टिकट का पैसा अदा करने के बाद भी हम उन्हें रेल में ससम्मान व सुविधाजनक यात्रा का अधिकार नहीं दे सकते हैं? हम मानवाधिकारों पर कार्यशालाएँ आयोजित करते हैं, पंचतारा होटलों और वातानुकूलित सभागारों में चर्चाएँ करते हैं किन्तु क्या हम पग-पग पर हो रहे उनके हनन से वास्तव में चिन्तित व व्यथित हैं? आवश्यकता है कि हम सब समर्पण भाव से मानवाधिकारों के प्रति संवेदनशील हों और उनकी संकुचित व्याख्या के स्थान पर उन्हें समग्रता से समझें और जीवन में उतारें।

(डी.एल.ए. दि. 21.12.2009 में प्रकाशित)

कठिन होता शहरी जीवन

शहरों का जनसैलाब अप्रत्याशित रूप से बढ़ रहा है, जो शहरवासियों को आखिर कहाँ ले जायेगा? वर्ष 2001 की जनगणना में जहाँ 27.8 प्रतिशत व्यक्ति शहरों में रहते थे जो विश्व बैंक के अनुमान के अनुसार वर्ष 2041 में 50 प्रतिशत होंगे। यदि संख्या की बात करें तो भारतवर्ष में वर्ष 2001 में 28.61 करोड़ लोग शहरों में रहते थे, जो वर्ष 2041 की अनुमानित जनसंख्या 169.5 करोड़ का 50 प्रतिशत अर्थात् 84.75 करोड़ होंगे और इस प्रकार वर्ष 2041 में वर्ष 2001 के सापेक्ष में शहरों की जनसंख्या लगभग तीन गुनी होगी। शहरों की तब स्थिति कैसी होगी, इसका अनुमान लगाना सहज है।

पहले सड़कों पर कारों और अन्य वाहनों की न तो इतनी भीड़ थी, न ट्रैफिक जाम थे, दुर्घटनाएँ कम होती थीं और एक से दूसरी जगह जाने में इतना समय भी नहीं लगता था। लेकिन अब सड़कें सिकुड़ रही हैं, वाहन बढ़ रहे हैं और जनसंख्या भी बढ़ रही है। सड़कों के किनारे बहुमंजले भवन बन रहे हैं, क्या भविष्य में उन्हें तोड़कर हम सड़कों को चौड़ा कर सकेंगे? निश्चित रूप से नहीं। फिर उस क्षेत्र के रहने वालों की क्या दयनीय स्थिति होगी?

गांवों और कस्बों के लोग बड़े शहरों के चुम्बकीय आकर्षण से खिंचे आ रहे हैं, जिससे शहरों के जीवन की गुणवत्ता क्रमशः घट रही है। हवा प्रदूषित होती जा रही है, जो श्वास के रोगों को बढ़ा रही है, शोर से बहरापन आ रहा है, बढ़ती हड़बड़ी अनेक मानसिक बीमारियों और चिड़चिड़ेपन को उत्पन्न कर रही है। आय के माध्यम शहरों में बढ़ तो रहे हैं किन्तु वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य की कीमत पर।

पेयजल, सुव्यवस्थित जल निकासी व्यवस्था, सीवरेज नैटवर्क, विद्युत, सफाई व्यवस्था, यातायात और सॉलिड-वेस्ट मैनेजमेंट सभी में बढ़ती जनसंख्या के कारण खामियाँ बढ़ती जा रही हैं। देश में शहरी जीवन में मूलभूत सुविधाओं की कमी होती जा रही है। जवाहरलाल नेहरू अरबन रिनुअल मिशन में केन्द्र सरकार ने 63 शहरों के लिए 50 हजार करोड़ की सहायता की योजना तो बनाई, किन्तु कितने शहरों में सुधार आ सका? वर्ष 2001 में शहरी जनसंख्या के 23 प्रतिशत व्यक्ति झुग्गी-झोपड़ियों में रहते थे और यह प्रतिशत मुम्बई में तो 55 था। कुल शहरी जनसंख्या के सापेक्ष में शौचालय, ड्रेनेज व पेयजल की सुविधाओं से क्रमशः 26 प्रतिशत, 23 प्रतिशत व 9 प्रतिशत व्यक्ति पूर्णतः वंचित थे। यदि हम शहरों में शुद्ध पेयजल नहीं दे सकते हैं तो शहरी जीवन किस मापदण्ड पर खरा उतर सकता है? घटता हुआ भूगर्भ-जलस्तर, सूखती हुई नदियाँ और कम होती वर्षा भी शहरों में पेयजल की समस्या को और अधिक विकराल रूप देने के लिए तत्पर है। क्या हम बिना पानी के हम शहरों में रह सकेंगे?

झुग्गी-झोपड़ियों की संख्या शहरों में बढ़ रही है क्योंकि वहाँ गरीबों को रोटी-रोजी कमाने का अवसर गांवों की तुलना में कहीं अधिक है। शहरी गरीबों की संख्या का ग्राफ तेजी से बढ़ रहा है। 10वीं पंचवर्षीय योजना के अंत में शहरों में 2.47 करोड़ आवासों की कमी थी, जिसमें 99 प्रतिशत

कमी निम्न व दुर्बल आय वर्ग के आवासों की थी। शहरों में बढ़ रहे अनाधिकृत निर्माण, आवासीय क्षेत्रों का व्यवसायीकरण, सड़कों पर हो रहे स्थाई व अस्थायी अतिक्रमण, शहरवासियों के अपने लालच ने शहरों की स्थिति को और अधिक दयनीय बना दिया है। जैसे-जैसे शहरी भूमि की कीमतें बढ़ती जायेंगी, शहरों के विकास में और अधिक विकृतियाँ प्रकट होंगी व मलिन बस्तियाँ बढ़ेंगी। शहरी गरीबों के लिए एक छत भी दूँभर हो जायेगी।

कानून व्यवस्था के मामले में भी शहरों की स्थिति क्रमशः बिगड़ ही रही है। लूटपाट, हत्यायें, तरह-तरह के आर्थिक व सामाजिक अपराध, माफियाओं का राज प्रत्येक शहर के लिए एक आम सी बात हो गई है और कुल मिलाकर शहरों में सुरक्षित जीवन के प्रति वहाँ के निवासी सशंकित हैं।

शहरों में जीवन को सुधारने के लिए हमें समस्या की दशा और दिशा को समग्रता से समझना होगा। शहरों के निर्माण एवं विकास को नियोजित रूप से सुनिश्चित करना होगा। शहरी भूमि के प्रबंधन की प्रभावी नीति बनानी होगी। शहरी जनसंख्या में होने वाली वृद्धि को देखते हुए नगर नियोजकों और नीतिकारों को शहरी विकास में उत्पन्न हो रही विकृतियों को दूर करने के लिए प्रभावी समाधान ढूँढने होंगे व शहरों के घने क्षेत्रों में और अधिक हो रहे निर्माणों पर रोक लगानी होगी। नये प्लानिंग नॉर्म्स बनाने होंगे। यातायात के लिए 'रैपिड ट्रान्सपोर्ट सिस्टम' को समय रहते विकसित करना होगा। निजी वाहनों की बढ़ती संख्या पर रोक लगानी ही होगी चाहे वे पंजीकरण शुल्क या रोड-टैक्स बढ़ाकर ही क्यों न हो, जैसा कि सिंगापुर में है। मल्टी-लैवल पार्किंग्स विकसित करनी होंगी और पब्लिक लैण्ड से अतिक्रमण को हटाना होगा।

यही नहीं, हमें पार्कों व हरित-पट्टिकाओं की भूमियों को भी अर्जित कर विकसित करना होगा, जो वहाँ के 'ब्रीदिंग लंग्स' के रूप में कार्य करे। विभिन्न विकास एजेन्सियों के मध्य समन्वय स्थापित करना होगा और शहरों का अपना एक दीर्घकालीन 'विज़न स्टेटमेंट' बनाना होगा, जिसे हर दशा में हमें कार्यान्वित करना होगा चाहे कोई भी सरकार आये या जाये। "प्लानिंग और इम्प्लीमेंटेशन" की दूरी मिटानी होगी। न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू द्वारा इलाहाबाद उच्च न्यायालय के शौकत अली के निर्णय (जुलाई 2007) में इंगित प्राधिकरणों में व्याप्त भ्रष्टाचार पर भी अंकुश लगाना होगा। प्राइवेट सैक्टर को भी सशक्त भूमिका अदा करनी होगी। पब्लिक-प्राइवेट पार्टिसिपेशन शहरी जीवन के सुधार का मंत्र भी बनना चाहिए। कस्बों और गांवों में रोजगार की नई सम्भावनाओं को तलाशना होगा ताकि वहाँ के निवासी शहरों की ओर पलायन न करें। निःसन्देह यदि हम अब भी शहरों के सुधार के लिए दृढसंकल्पित न हुए तो शहरों में रहने वाले निवासियों का जीवन और अधिक कठिन व कष्टप्रद होगा।

(दि0 21.1.2010 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

शहरों में बढ़ती गंदगी

शहरों में जगह-जगह बढ़ते हुए गंदगी के अम्बार जैसे ये कहते हैं कि सफाई के प्रति हममें कोई भावना या इच्छा ही नहीं है। कार्यक्रमों के बाद झूठे गिलास-प्लेटें-दौनें आदि इधर-उधर बिखरे दिखते हैं। चलती हुई मर्सिडीज़ और लगज़री कारों से गंदगी को फेंकना किसी भी हाईवे पर देखा जा सकता है! व्यवसायिक प्रतिष्ठान हों, नर्सिंग-होम या हॉस्पिटल, उनका फेंका हुआ कूड़ा उनके आसपास या पिछवाड़े में देखने को अवश्य मिल जायेगा। खाने-पीने की ठेलें हों या दुकानें, हम वहीं खाते हैं और वहीं दोने-पत्ते फेंक देते हैं। हम कहीं भी थूक देते हैं और गुटखे और रैपरों को भी फेंक देते हैं। न तो हम सफाई के प्रति और न ही गंदगी पर कुछ विचार करते हैं। सही अर्थों में हम अपने घर को तो साफ-सुथरा रखना चाहते हैं लेकिन गली, सड़क या अपने आसपास कूड़ा फेंकने में हमें तनिक भी संकोच नहीं करते हैं। आखिर शिक्षित होने या मिशनरी और कॉन्वैन्ट स्कूलों में पढ़ने के बाद भी सफाई के प्रति हममें जागरुकता क्यों नहीं है?

नगर निगम और नगर पालिकाओं की स्थिति तो बदतर ही है। सफाई उनका विधिक दायित्व है किन्तु कूड़े के ढेर, बन्द पड़ी नालियाँ, उफनते डलावघर व दुर्गन्धयुक्त डस्टबिन अपनी कहानी साफ तौर से सुनाते हैं। नगर निगम अधिनियम में सड़कों की सफाई और कूड़े को उठाने का दायित्व नगर आयुक्त का है (धारा 385) और सफाई व्यवस्था के लिए निजी भवनों को भी देखने और आवश्यक मरम्मत आदि निदेश देने का अधिकार है (धारा 390 व 392), किन्तु इन दायित्वों के निर्वाहन में नगर निगम कहाँ तक सफल हो पाता है? मन्दिर, मठ, मस्जिद, दरगाह, पूजा के स्थल, पर्यटन स्थल आदि के सम्बन्ध में नगर आयुक्त को सफाई की विशेष व्यवस्थाएँ करने का अधिकार है (धारा 389) किन्तु ऐतिहासिक इमारतों, मन्दिरों और धार्मिक स्थानों के आसपास हमें गंदगी और अधिक मिलती है। हैल्थ-मैनुअल के अनुसार 10 हजार की जनसंख्या पर 55 सफाईकर्मी होने चाहिए। आगरा नगर निगम को देखिए — 16 लाख की जनसंख्या पर 8800 कर्मचारियों के स्थान पर मात्र 2750 कर्मचारी ही हैं और 6050 कर्मचारियों की कमी है। लैण्डफिल साइट्स भी हम शहरों के लिए नहीं बना सके हैं। स्थानीय निकाय संसाधनों और मैनुअल-पावर की कमी का दुखड़ा रोते हैं लेकिन आखिर प्रश्न है कि दिन-रात बढ़ती हुई जनसंख्या वाले शहरों में सफाई आखिर कैसे होगी?

उ.प्र. शासन ने सितम्बर, 2007 में शहरी कूड़े के सम्बन्ध में नियमावली का प्रारूप बनाया, जिस पर न तो कोई बहस हुई, न विचार-विमर्श हुआ और न ही वह अभी तक लागू हो सका है। इस नियमावली में अर्थदण्ड प्रस्तावित था। बिना जनसहभागिता के बनाई गई नियमावली अपने उद्देश्यों को कहाँ तक प्राप्त करेगी।

पर्यावरण संरक्षण अधिनियम के वर्ष 1986 में बनने के बाद भी उसका प्रभावी प्रयोग शहरों में बढ़ती गंदगी को रोकने के लिए नहीं किया जा सका है। यमुना गंदगी ढोने के लिए नाला बन चुकी है। वर्ष 1997 में सड़कों और पब्लिक लैण्ड पर गंदगी न हो या बिल्डिंग मैटेरियल न रखा जाय, इसके अधिकार भी प्राधिकरणों को दिये गये (धारा 26-क) लेकिन शायद ही उसके प्रयोग का दृष्टान्त दिया जा सके।

वन एवं पर्यावरण मंत्रालय द्वारा सॉलिड-वेस्ट मैनेजमेंट के लिए एम.एस.डब्ल्यू. 2000 नियमावली बनाई गई, जिसमें घरों में उत्पन्न होने वाले तीन प्रकार के कूड़े को अलग-अलग करने और घर-घर जाकर कूड़ा एकत्रित करने की बात कही गई। एक दशक बाद भी हम वहीं के वहीं हैं। “जवाहरलाल नेहरू अरबन रिनुअल मिशन” के अंतर्गत सॉलिड-वेस्ट मैनेजमेंट के नाम पर बड़ी धनराशि मिशन शहरों के लिए दी जा रही है किन्तु क्या उससे हमारे शहर साफ-सुथरे हो पायेंगे?

कुल मिलाकर सफाई को लेकर हम पूर्णतः असफल रहे हैं। हम गम्भीरता से यदि विचारें तो सबसे बड़ी कमी हमारी ही है, जिनमें सफाई के प्रति सम्वेदनशीलता का अभाव है और अपना दायित्वबोध नहीं है। हम गन्दगी फैलाते रहें और नगर निगम और स्थानीय निकाय से यह आशा करें कि वह प्रभावी सफाई व्यवस्था कर सकेगी, यह हमारा स्वप्न ही है।

वस्तुतः सफाई को हमें अपने जीवन और चरित्र का एक आवश्यक हिस्सा बनाना होगा। कॉलोनियों और बस्तियों में ‘रैजीडेंट वैल्फेयर एसोसिएशन’ बनाकर उन्हें सशक्त भूमिका अदा करनी होगी। उनको सफाई अभियान का हिस्सा बनना होगा और स्वच्छता के संदेश को घर-घर पहुँचाना होगा। कॉलोनियों में कम्पोस्टिंग करनी होगी और कॉलोनीवासियों को सफाई की मदद पर भी मासिक रूप से कुछ व्यय करना होगा। कार्यपालिका और स्थानीय निकायों को भी प्रदूषण और गन्दगी को रोकने के लिए कानूनों को सख्ती और ईमानदारी से लागू करना होगा। गैर-सरकारी संगठनों को भी समाज हित में लोगों को जगाना होगा और जहाँ भी आवश्यक हो अफसरशाही और सरकारी तन्त्र पर अंकुश लगाना होगा। न्यायालयों को भी गन्दगी को लेकर सक्रियता दिखानी होगी। विद्यालयों में छात्रों के मध्य सफाई की भावना को गहराई से उनके मन में बैठाना होगा। यही नहीं, नागरिक संगठनों द्वारा समय-समय पर सफाई अभियान चलाना होगा, सफाई कैसे हो, इस पर चर्चा करनी होगी और लोगों को जागृत करना होगा। ऐसे सार्थक प्रयास ही हमारे शहरों को साफ-सुथरा बना सकेंगे और हम भी सिंगापुर और यूरोप के शहरों जैसी सफाई का स्वप्न साकार कर सकेंगे।

(दि0 18.3.2010 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

उपेक्षित सांस्कृतिक धरोहरें

ऐतिहासिक स्मारक हमारी राष्ट्रीय धरोहर हैं जो इतिहास, संस्कृति और शिल्पकला को संजोये हुए हैं। ऐसी धरोहरों के प्रति जागृति उत्पन्न करने हेतु हम प्रतिवर्ष 18 अप्रैल को “विश्व धरोहर दिवस” मनाते हैं, किन्तु क्या हम वास्तव में इन धरोहरों के प्रति संवेदनशील हैं? आवश्यक यह है कि हम इन धरोहरों को जानें, उनकी महत्ता को समझें और उनसे हमारा लगाव हो! वास्तव में स्मारक केवल इमारत नहीं हैं अपितु इतिहास व शिल्पकला के साक्षी हैं।

केन्द्र सरकार द्वारा संरक्षित स्मारकों के रखरखाव के लिए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ए.एस. आई) उत्तरदायी है किन्तु उसकी भूमिका जन-अपेक्षाओं की कसौटी पर सम्भवतः खरी नहीं उतरी है। ताजमहल, आगरा किला, खजुराहो आदि अनेक विश्वदाय स्मारकों का ए.एस.आई. द्वारा किया जा रहा रखरखाव स्तरीय है किन्तु कम प्रसि) स्मारकों का रखरखाव उपेक्षित ही है। आगरा के संरक्षित ‘बत्तीस खम्बा’ स्मारक को ही देखिए जिसमें विगत अनेक दशकों से कोई संरक्षण का कार्य ही नहीं हुआ और जब स्थानीय सांसद द्वारा संसद में उसके संबंध में प्रश्न उठाया, तब उसके संरक्षण का प्रस्ताव बना।

ए.एस.आई की कार्यप्रणाली में अनेक नीतिगत कमियाँ भी हैं। वह केवल स्मारकों के रखरखाव का उत्तरदायित्व समझती है किन्तु उसकी दृष्टि में स्मारकों के प्रचार-प्रसार और उनके इतिहास को जनता के समक्ष रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्मारकों के आसपास की सफाई व्यवस्था से भी ए.एस.आई. को कुछ लेना-देना नहीं है। ए.एस.आई. को समझना होगा कि स्मारकों को लोकप्रिय बनाये बिना मात्र स्मारकों का संरक्षण पर्याप्त नहीं है। यह कटु सत्य है कि शिल्प और ऐतिहासिक महत्व के सैकड़ों उत्कृष्ट स्मारकों को देखने के लिए पूरे वर्ष में दो-चार पर्यटक भी नहीं पहुँचते हैं। अधिकांश शहरवासी अपने शहर के स्मारकों से अनभिज्ञ हैं। कितने व्यक्ति जानते हैं कि भारत वर्ष में 3606 राष्ट्रीय महत्व के संरक्षित स्मारक हैं, जिनमे से आगरा शहर में 199 स्मारक हैं, जिनके संरक्षण की अधिसूचना अंग्रेजों द्वारा वर्ष 1912 से 1924 के मध्य जारी हुई थी। अनेक स्मारकों में उनके इतिहास को बताने के लिए ए.एस.आई. द्वारा कोई सांस्कृतिक पट्टिका भी नहीं लगायी गयी है। यही नहीं, आगरा किले में लगी अनेक सांस्कृतिक पट्टिकाएँ धुंधली व अपठनीय हैं। स्कूलों और कॉलेजों के विद्यार्थियों को भी स्मारकों में ले जाकर उनसे रूबरू कराना चाहिए। स्मारक रूपी धरोहरों को मात्र ताला लगाकर संरक्षित करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होना है, यह बात ए.एस. आई. और केन्द्र सरकार को अच्छी तरह समझनी चाहिए। इसमें कोई दो मत नहीं होने चाहिए कि ए.एस.आई. को संरक्षित स्मारकों के प्रचार-प्रसार को अपने एजेण्डा का अभिन्न हिस्सा बनाना होगा।

प्राचीन संस्मारक एवं पुरातत्वीय स्थल व अवशेष अधिनियम, 1958 के अंतर्गत केन्द्रीय संरक्षित स्मारकों के 100 मीटर तक के क्षेत्र को निर्माण निषिद्ध और अगले 200 मीटर तक के क्षेत्र को विनियमित क्षेत्र घोषित करने की अधिसूचना केन्द्र सरकार द्वारा वर्ष 1992 में जारी की गई थी जिसने स्मारकों को और अधिक नुकसान पहुँचाया व उनके चारों ओर हजारों अनाधिकृत निर्माणों की बाढ़ सी आ गई। बिना अर्जित किये और बिना किसी प्रकार का मुआवजा दिये केन्द्र सरकार की

निर्माणों को रोकने की परिकल्पना निरर्थक थी। अनाधिकृत निर्माणों के मामले में 1958 का अधिनियम भी अप्रभावी सिद्ध हुआ है। विकास प्राधिकरण व स्थानीय निकाय भी इस मुद्दे पर असफल रहे हैं। अभी हाल (वर्ष 2010) में 1958 के अधिनियम में संशोधन तो संसद द्वारा किये गये किन्तु उसमें भी समस्या के इस पहलू पर विचार नहीं किया गया है। स्मारकों के चारों ओर के अनाधिकृत निर्माणों को हटाने के लिए कारगर नीति बनाना आवश्यक है ताकि क्षेत्र का सौन्दर्यीकरण हो। केन्द्र सरकार को चाहिए कि सभी संरक्षित स्मारकों के चारों ओर की भूमि को मुआवजा देकर अर्जित करे और उसे हरे-भरे क्षेत्र के रूप में विकसित करे।

अनेक संरक्षित स्मारकों के लिए न तो कोई पार्किंग है और न जाने-आने के लिए रास्ता ही। पार्किंग और वाहनों के पहुँच मार्ग के अभाव में आखिर पर्यटक उन्हें कैसे देखे? ए.एस.आई. को चाहिए कि वह प्रत्येक स्मारक के लिए पार्किंग और मार्ग विकसित करे। ए.एस.आई. द्वारा स्मारकों के लिए रोड-संकेतक भी नहीं लगाये जाते हैं जो लगाये जाने चाहिए। स्मारकों की पुस्तिका भी ए.एस.आई. को नियमित रूप से प्रकाशित की जानी चाहिए और स्मारकों के सचित्र इतिहास को अपनी वेबसाइट पर प्रदर्शित करना चाहिए। स्मारकों के अवलोकन के लिए पूरे दिन व आधे दिन के 'सिटी टूर' की व्यवस्थाएँ करनी चाहिए। स्मारकों के रखरखाव के लिए स्थानीय कमेटी का गठन भी एक अच्छा सुझाव हो सकता है ताकि जनसहभागिता से स्मारकों को लोकप्रिय बनाया जा सके।

मुख्य मार्गों के किनारे स्थित स्मारकों को रात्रि में बिजली की रोशनी से जगमगाया जाय, तो स्मारक दूर से ही दिखेंगे व प्रचारित होंगे। जो स्मारक अतिक्रमण के शिकार हैं उन्हें अतिक्रमण मुक्त करना आवश्यक है।

स्मारकों की मार्केटिंग के लिए भी हमें कुशल रणनीति बनानी होगी ताकि अधिक से अधिक देश-विदेश के पर्यटक उन्हें आकर देखें, जिससे न केवल स्मारकों की लोकप्रियता बढ़ेगी बल्कि स्थानीय लोगों के लिए रोजगार और आय के स्रोत बनेंगे। इसके लिए पर्यटन व सांस्कृतिक मंत्रालयों को आपस में समन्वित दृष्टिकोण व एजेण्डा बनाना होगा। प्रतिवर्ष केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों को संरक्षित स्मारकों की 'स्टेटस रिपोर्ट' भी बनाकर जारी करनी चाहिए। केन्द्र सरकार द्वारा ऐसे स्मारकों को भी संरक्षित घोषित करना चाहिए जो ऐतिहासिक महत्व के हैं किन्तु पूर्व में संरक्षित घोषित होने से रह गये थे।

कुल मिलाकर हमें अपनी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक धरोहरों को और अधिक सुरक्षित व लोकप्रिय बनाना होगा जिसके लिए विधिक एवं प्रशासनिक नीतिगत सुधार भी अमल में लाने होंगे। जनसहयोग के बिना यह सम्भव नहीं होगा और उसके लिए विशेषज्ञों, इतिहासकारों व मीडिया का भी योगदान अपरिहार्य है।

(दि0 20.4.2010 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

प्रभावी कदम है नया अपार्टमेंट कानून

बढ़ती शहरी जनसंख्या और उपलब्ध “हाउसिंग स्टॉक” के बीच की खाई निरन्तर बढ़ रही है। शहरी भूमि की कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण अधिकांश व्यक्ति अपने व्यक्तिगत घरों की सोच नहीं सकते हैं। इस पृष्ठभूमि में ग्रुप हाउसिंग को बढ़ावा देने और उन्हें रैगुलेट करने के लिए अभी हाल ही में उत्तर प्रदेश में अपार्टमेंट कानून, 2010 बनाया गया है जिसके द्वारा प्रमोटर्स, अपार्टमेंट स्वामियों व उनकी एसोसिएशनों के अधिकार और दायित्व निर्धारित किये गये हैं। इस कानून द्वारा सक्षम प्राधिकारी के रूप में अपार्टमेंटों के लिए “रैगुलेटरी बॉडी” बनाने की पहल भी की गई है।

यह कानून उन सभी भवनों के लिए लागू है, जिनमें चार अथवा उससे अधिक अपार्टमेंट हैं किन्तु उसमें शॉपिंग मॉल और मल्टीप्लैक्स शामिल नहीं होंगे यद्यपि दुकानें और कार्यालय सम्मिलित हैं।

बिल्डरों के द्वारा प्रीलॉन्च बुकिंग, बुकिंग के समय लुभावने वायदे एवं उनके साथ विवादों पर अंकुश लगाने व पारदर्शिता लाने के लिए इस अधिनियम में यह प्राविधान धारा 4 के अंतर्गत किये हैं कि जब भी कोई प्रमोटर अपार्टमेंट को बेचना चाहता है तो उसे अपने भावी क्रेता और सक्षम प्राधिकारी को पूरी तरह से एवं सत्य रूप से यह बताना होगा कि भवन में उसके अधिकार व स्वामित्व किस प्रकार के हैं? क्या किसी अन्य व्यक्ति का किसी प्रकार का कोई अधिकार है? क्या उसके मानचित्र स्वीकृत हो चुके हैं या स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किये जा चुके हैं? बनाये जाने वाले भवन में क्या “कॉमन एरिया व सुविधाएँ” होंगी तथा क्या फिक्चर्स-फिटिंग्स लगाये जाने प्रस्तावित हैं? उसके द्वारा यह भी बताया जाना अनिवार्य होगा कि उसकी स्ट्रक्चरल व आर्कीटेक्चरल ड्रॉइंग क्या है और क्या उसके द्वारा अग्निशमन विभाग से अनापत्ति प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया गया है? प्रमोटर को यह भी स्पष्ट करना होगा कि कितनी अवधि में वह निर्माण कार्य को पूर्ण करेगा, विलम्ब होने पर पैनल्टी और एलॉटमेंट कौंसिलेशन की क्या शर्तें होंगी? प्रमोटर द्वारा बिना “पूर्णता प्रमाण-पत्र” प्राप्त किये अपार्टमेंट को बेचने पर भी रोक लगा दी गई है।

इस कानून के अंतर्गत अपार्टमेंट स्वामियों को यह अधिकार प्राप्त है (धारा 5) कि उनका कॉमन एरिया व सुविधाओं में भी अविभाजित अंश होगा किन्तु अपार्टमेंट स्वामी के द्वारा कॉमन एरिया और सुविधाओं का प्रयोग इस प्रकार किया जायेगा कि अन्य किसी अपार्टमेंट स्वामी के अधिकारों को प्रभावित न करे। अपार्टमेंट स्वामियों को अपार्टमेंट-डीड के प्रतिबंधों का भी पालन अनिवार्य होगा और वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिसके कारण उस भवन की सुरक्षा प्रभावित हो या उसकी कीमत घटे। अपार्टमेंट स्वामी भवन की बाहरी दिखावट को भी नहीं बदल सकेंगे।

अपार्टमेंट स्वामियों को अपनी एसोसिएशन बनाना भी अनिवार्य कर दिया गया है (धारा 14) ताकि अपार्टमेंटों और उससे सम्बन्धित सम्पत्तियों व कॉमन एरिया का प्रभावी प्रबंधन हो सके। एसोसिएशन के गठन के साथ वहाँ का प्रबन्धन उसको हस्तान्तरित माना जायेगा। एसोसिएशन की उपविधियाँ शासन द्वारा नियमों के अंतर्गत अभी बनायीं जानी हैं।

अब अपार्टमेंट स्वामियों द्वारा कॉमन खर्च को भुगतान करने का विधिक दायित्व होगा (धारा 18) और यदि कोई अपार्टमेंट स्वामी किसी सुविधा का प्रयोग नहीं भी करता है तथापि उसे भुगतान करना ही होगा (धारा 19)। यह कॉमन खर्च अपार्टमेंट पर 'चार्ज' के रूप में होंगे और यदि 12 माह तक यह खर्च अपार्टमेंट स्वामी द्वारा एसोसिएशन को नहीं दिये जाते हैं तो सक्षम प्राधिकारी के माध्यम से उनकी वसूलयावी अपार्टमेंट स्वामी से भू-राजस्व के बकाया की भांति कराई जा सकेगी (धारा 20)। यदि कोई अपार्टमेंट स्वामी कॉमन खर्च नहीं देता है तो 7 दिन का नोटिस देकर उसकी सुविधाओं को रोका भी जा सकता है (धारा 22)। यह कानून सभी अपार्टमेंट स्वामियों, उनके किरायेदारों, उनके कर्मचारियों अथवा अन्य सभी व्यक्तियों पर भी समान रूप से लागू है।

इस कानून के अंतर्गत सजा के भी कड़े प्राविधान हैं (धारा 25)। यदि कोई प्रमोटर किसी कॉमन एरिया को बेच देता है या स्वीकृत मानचित्र के विपरीत निर्माण करता है तो उसे 3 से 6 वर्ष तक की सजा या 3 लाख रुपये तक का हर्जाना या दोनों ही प्रकार से दण्डित किया जा सकता है और ऐसे दण्ड दिये जाने के उपरान्त भी कॉमन एरिया व सुविधा की पुर्नस्थापना उसके लिए अनिवार्य होगी। राज्य सरकार को भी इस कानून के अंतर्गत रिवीजन का अधिकार प्राप्त है कि वह सक्षम प्राधिकारी के आदेशों की वैधानिकता व उपयुक्तता का परीक्षण करे।

शहरों में अपार्टमेंटों की बढ़ती मांग के मध्य यह कानून एक सामयिक आवश्यकता है व स्वागत योग्य कदम है, किन्तु यह कितना प्रभावी होगा, यह उसके कार्यान्वयन पर निर्भर करेगा लेकिन यह निश्चित है कि बिल्डर्स व प्रमोटर्स को अब अपनी कार्यप्रणाली में और अधिक सकारात्मक सुधार लाने होंगे व उसे पारदर्शी व समयबद्ध बनाना होगा। अपार्टमेंट स्वामियों को भी आपसी सामंजस्य और संयुक्त उत्तरदायित्व की संस्कृति को भलीभांति अंगीकार करना होगा। अंततः इस कानून की सफलता की कुंजी नागरिकों की जागरूकता एवं न्यायपालिका की सक्रियता पर निर्भर होगी, जिससे भविष्य में अपार्टमेंट क्रेताओं व बिल्डरों के मध्य के विवाद, अपार्टमेंट स्वामियों के आपसी विवाद और गुप हाउसिंग में होने वाले अनाधिकृत निर्माण में निश्चिततः कमी आ सकेगी और सुरक्षा, मूल्य, सुविधाओं व पारस्परिक सामंजस्य की दृष्टि से अपार्टमेंट में रहना और अधिक कारगर और सफल प्रयोग होगा।

(दि० 2.6.2010 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

संवेदनशील बनें—पर्यावरण बचायें

समुद्र का बढ़ता हुआ जलस्तर, पिघलते ग्लेशियर, घटता हुआ भूगर्भीय जलस्तर और सूखती नदियाँ, विलुप्त होती तितलियाँ, भंवरे, केंचुए, जुगनू और गौरैया, बढ़ती हुई बेतहाशा गर्मी, शहरों का अनियन्त्रित विकास, सिकुड़ती सड़कें और कठिन होता नगरीय जीवन, किसानों का अंधाधुंध भूगर्भ जल का दोहन, शहरवासियों और गृहणियों द्वारा जल का दुरुपयोग, उद्योगों के लिए प्रदूषित होती नदियाँ और भूगर्भ जल, विषैली होती प्राणवायु—आखिर किसके संकेतक हैं? प्रकृति ने हमें सबकुछ दिया—आश्रय दिया, फल-फूल और अन्न दिया, जल और वायु दी, विविध प्रकार के सुन्दर वृक्ष, जीव-जन्तु व पौधे दिये, बर्फ से ढके सुन्दर पहाड़ और गहरे समुद्र दिये किन्तु बदले में उसके साथ हमारा क्या व्यवहार है?

हमारे जीवन और पर्यावरण की अभिन्न सहभागिता है। जैसे-जैसे पर्यावरण क्षतिग्रस्त होगा, हमारा जीवन भी उसी गति से दुष्कर और कठिन हो जायेगा। प्रकृति का उपयोग आखिर हमें किस सीमा तक करना है। उसकी सीमा हमारा लालच या लोभ नहीं अपितु हमारे विवेक को ही निश्चित करना होगा। प्रकृति के साथ अनावश्यक हस्तक्षेप और उसका असीमित उपभोग विध्वंसकारी परिणामों का जनक है। पूर्वजों से प्राप्त यह प्राकृतिक सम्पदायें हमारी पीढ़ी मात्र के भोग के लिए नहीं हैं, आने वाले हजारों वर्षों और अगली पीढ़ी दर पीढ़ी के लिए हैं। हम प्रकृति के 'ट्रस्टी' हैं, स्वामी नहीं और ऐसी भावना हमें अपनी सोच और व्यवहार में परिलक्षित करनी होगी, किन्तु जरा सोचें, जब हम समाज और मानव जीवन के प्रति ही प्रायः संवेदनहीन हैं, दवाईयों और खाद्य पदार्थों में मिलावट करते हैं, निर्माणों में सुरक्षा नियमों की अनदेखी करते हैं, प्लास्टिक का असीमित उपयोग करते हैं, भ्रष्टाचार को समाज ने खुले दिल 'स्वीकार' कर लिया है और शासन व प्रशासन निष्पक्षता से जनहित में कार्य ही नहीं करना चाहते हैं, तो क्या ऐसी मनःस्थिति के साथ पर्यावरण के प्रति हमारी चिन्ता सम्भव है?

आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने जीवन में संवेदनशीलता को अविरल रूप से प्रवाहित करें जो हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू के लिए अपरिहार्य बने, जिसमें पर्यावरण स्वतः ही समाहित हो जायेगा। ऐसी संवेदनशीलता को हमें अपने संस्कारों का हिस्सा बनाना होगा। एक बार हम संवेदनशील हो जायें, तो चाहे वो जल हो, वायु हो या अन्य प्राकृतिक सम्पदा, वृक्ष हों या जीव-जन्तु, उन्हें बचाने और उनके प्रति संरक्षण व मित्रता का भाव स्वतः ही हमारी संस्कृति बन जायेगा। अंततः संवेदनशीलता ही पर्यावरण सुरक्षा का मूल मंत्र बन सकेगी।

(दि0 5.6.2010 को दैनिक जागरण में प्रकाशित)

“लोकतन्त्र है या अफसरतन्त्र”

भारतीय लोकतन्त्र में वास्तविक सत्ता जनता के हाथों में है या अफसरों के? चाहें नये कानूनों को बनाना हो, उन्हें कार्यान्वित करना हो या उनके कार्यान्वयन की समीक्षा हो, पूर्ण प्रक्रिया वस्तुतः अफसरतन्त्र के हाथ में ही है। कहने को तो जनता का राज्य है और हमारे निर्वाचित प्रतिनिधि हमारे लिए कानून बनाते हैं, किन्तु नजदीकी से देखें कि कानून बनाने में जनता की सहभागिता नगण्य है। क्या कानून बनना है, उसका क्या प्रारूप होगा और यहाँ तक कि किस विषय पर कानून बने, यह अफसरतन्त्र ही निश्चित करता है। विभाग के मन्त्री जी के पास न तो समय है और न ही विषय का गहराई से ज्ञान। परिणाम यह है कि विभाग जो भी नये कानून बनाने या वर्तमान कानून में संशोधन का प्रस्ताव रखता है, उसे मन्त्री जी जैसा का तैसा स्वीकार कर लेते हैं और कैबिनेट भी उस पर मोहर लगा देता है। विधेयक जब सदन में आता है, तो उस पर बहस मात्र औपचारिकता होती है। पक्ष-विपक्ष के सदस्यों की तरफ से यदि सकारात्मक सुझाव भी आते हैं तो अपवादों को छोड़कर उसमें परिवर्तन नहीं होता है और सत्ता पक्ष का विधेयक पारित हो जाता है।

कभी-कभी विधेयकों को संसदीय समितियों के पास भेजा जाता है और वहाँ भी संसदीय समिति के सचिवालय के अधिकारियों का वर्चस्व होता है जो रिपोर्टें तैयार करते हैं। समिति के समक्ष महीनों विधेयक के विचाराधीन रहने के बाद जब समिति की रिपोर्ट तैयार होती है तो उसे समिति औपचारिक रूप से अंगीकार कर लेती है और वह रिपोर्ट सरकार के पास पहुँचती है। सरकार का अर्थ है अफसरों के पास। अफसर उसे फिर परीक्षण कर मन्त्री जी को परामर्श देते हैं कि विधेयक का मूल स्वरूप ही सही था अर्थात् संसदीय समिति की रिपोर्ट कूड़ेदान में चली जाती है।

ज़रा सोचें कि भूमि अध्याप्ति अधिनियम, 1894 का संशोधित विधेयक ग्रामीण विकास मंत्रालय की स्थायी समिति को 7.12.2007 को भेजा गया जो वहाँ 10 महीने विचाराधीन रहा और समिति ने 200 पृष्ठों की अपनी आख्या लोकसभा को दी लेकिन सरकार ने रिपोर्ट की किसी भी संस्तुति को नहीं माना और मूल स्वरूप में ही विधेयक मार्च 2009 में लोकसभा में बिना बहस के पारित हो गया। यह उदाहरण भी दिखाता है कि अंततः अफसरतन्त्र द्वारा बनाये गये विधेयक का प्रारूप ही कानून बनता है।

विधेयक को सदन में लाने से पूर्व कितने विभाग अपनी वैबसाइट पर उसके प्रारूप को प्रचारित करते हैं या अपलोड करते हैं और सुझावों को आमन्त्रित करते हैं? यदि कोई विभाग भूल से विधेयक के प्रारूप को साइट पर अपलोड भी कर दे, तो कितने सुझावों पर गम्भीर चिन्तन होता है? न तो जनता की सीधी सहभागिता कानून बनाने की प्रक्रिया में है और न ही सदन में विधेयक को पारित करते समय जनप्रतिनिधियों की वास्तविक भागीदारी! विधायी मन्तव्य की व्याख्या में उच्च और उच्चतम न्यायालय कितना समय लगाते हैं लेकिन वह मन्तव्य विधायिका का न होकर चुनिन्दा अवसरों का होता है।

विधायिका को प्रश्नों के माध्यम से कार्यपालिका के कार्यों की समीक्षा करने एवं कानूनों के कार्यान्वयन को मॉनीटर व सुपरवाइज करने का महत्वपूर्ण संवैधानिक अधिकार है, किन्तु सदन में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर की गुणवत्ता देखिए! आधे-अधूरे गैर-जिम्मेदाराना उत्तर प्रायः सदन में रखे जाते हैं क्योंकि अफसर ही उसे बनाते हैं, बेचारे मन्त्री जी के पास इतना समय कहाँ है कि वे प्रश्नों के उत्तरों की समीक्षा स्वयं कर सकें। प्रश्नों व ध्यानाकर्षण प्रस्तावों के माध्यम से कार्यपालिका पर अंकुश लगाने का अधिकार भी आखिर मृग-मरीचिका ही है!

शासन की नीतियाँ भी मंत्रिमण्डल या विभगीय मंत्री महोदय को बनाने का समय ही कहाँ है! सारी नीतियाँ (कथित रूप से जनता के लाभार्थ) अधिकारीगण ही बनाते हैं। ऐसी नीतियाँ किसके लाभ के लिए होंगी और कितनी जनअपेक्षाओं के अनुरूप होती हैं, इसका सहज अनुमान हम लगा सकते हैं। जब नीतियाँ बनाते समय स्टैक-होल्डर्स से कोई विचार-विनिमय न हो या फीडबैक न लें तो नीतियों का क्या हश्र होगा! एक बार यदि दोषपूर्ण नीति बन गई, तो उसमें संशोधन के लिए फिर एक लम्बी मशक्कत, पैरवी और पैसा चाहिए। आखिर हमारे लोकतन्त्र में सत्ता की कुंजी जनता के हाथ में कहाँ है ? जनता के लिए बनने वाले कानूनों के मसौदों पर जनता के बीच खुली बहस होनी चाहिए जिसमें सामाजिक व स्वैच्छिक संगठन, अधिवक्ता, न्यायाधीश, लोकसेवक व स्टैक-होल्डर्स उसका आवश्यक हिस्सा बनें।

हमें जनतन्त्र को यदि सच्चे अर्थों में सफल बनाना है तो ईमानदारी से हमें अपने मताधिकार का प्रयोग चुनावों में करना होगा। ईमानदार, शिक्षित व परिश्रमी जनप्रतिनिधियों को चुनना होगा, जो हमारे हित के लिए हर स्तर पर संघर्ष करें। कानून और नीतियों को बनाने में जनता की सीधी भागीदारी हो जो जनहितार्थ हों। भ्रष्ट अफसरतन्त्र पर अंकुश लगाने का और जनता के हार्थों में सत्ता देने के लिए इसके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है और इसी से नेताओं और अधिकारियों की दुरभिसंधि टूट सकेगी व ईमानदार लोकसेवक प्रोत्साहित हो सकेंगे। यह सही है कि लोकतन्त्र की सफलता बिना लोकसेवकों के सम्भव नहीं किन्तु वे लोकतन्त्र की आत्मा की हत्या ही कर उसे कलुषित कर दें, यह हमें कदापि स्वीकार नहीं होना चाहिए। कुल मिलाकर जनसक्रियता ही हमारे लोकतन्त्र की सफलता का मूलमन्त्र बन सकती है।

(दि0 22.6.2010 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

इण्टरनेट अपनायें—वृक्ष बचायें

वृक्षों को बचाने की मुहिम में पूरा विश्व लगा है। ग्लोबल वार्मिंग व गिरते भूगर्भ जलस्तर के लिए अधिक से अधिक वृक्षों को हमें बचाना है और नये वृक्षों को भी लगाना है। इस महायज्ञ में सूचना प्रौद्योगिकी के नये अस्त्र इण्टरनेट का प्रयोग कारगर होगा।

ई-मैगज़ीन, ई-बुक्स, ई-मेल, ई-एडवर्टाइज़मेंट, ई-पेमेण्ट्स, ई-न्यूज़पेपर ये सभी पर्यावरण मित्र हैं जिनके लिए न तो कागज की और न ही प्लास्टिक की आवश्यकता है। अपने ग्राहकों और मित्रों से पत्र के स्थान पर ई-मेल के माध्यम से तुरन्त 'कॉम्युनिकेशन' सम्भव है, न कोरियर की जरूरत है और न डाक की। मेल टाइप करें और एक 'माउस क्लिक' के साथ दुनिया के किसी भी कोने से संवाद स्थापित करें। कागज भी बचेगा और अनावश्यक श्रम भी। अभिलेखों को भेजने के लिए 'स्कैनिंग' करें और उन्हें ई-मेल से भेजें। यदि अंग्रेजी का कोई प्रिन्टिड मैटेरियल है, तो उसे स्कैन कर सॉफ्ट-कॉपी में भी परिवर्तित कर ई-मेल किया जा सकता है।

पुस्तकों की दुनिया में ई-बुक्स का अपना स्थान बनती जा रही हैं। 'अमेज़न डॉट कॉम' द्वारा 'किन्डल' रीडिंग डिवाइस विकसित किया गया है और भारत में 'इन्फोबीम' भी उपलब्ध है। कागज की किताबों को खरीदने के स्थान पर इन 'रीडिंग डिवाइस' द्वारा पुस्तकों को सुगमता से पढ़ा जा सकता है। एस.एम.एस. से भी कागज के अनावश्यक प्रयोग को रोका जाना सम्भव है और '3-जी' मोबाइल का प्रयोग तो सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकेगा।

विधि पुस्तकों को क्रय करने के स्थान पर 'लॉ-सॉफ्टवेयर' अत्यन्त सस्ते हैं जिनके द्वारा न्यायालय के किसी भी निर्णय को ढूँढना अत्यन्त सरल है। दिल्ली के एक 'लॉ-सॉफ्टवेयर' में समस्त उच्च न्यायालयों व उच्चतम न्यायालय के लगभग 4 लाख निर्णय हैं, जिन्हें यदि छापा जाय तो कम-से-कम 30-40 लाख कागजों की आवश्यकता होगी जिसकी 5000 पुस्तकें बनेंगी, जबकि यह सॉफ्टवेयर मात्र 25 हजार रुपये में उपलब्ध है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय की दैनिक मुकदमों की प्रकाशित की जाने वाली 'कॉज़-लिस्ट' लगभग 100 पृष्ठों की होती है और प्रतिदिन यह ट्रक में भरकर वितरण के लिए न्यायालय में आती है। क्यों न हम इण्टरनेट की 'कॉज़-लिस्ट' को ही लोकप्रिय बनायें। अब तो ई-न्यायालय भी कार्यरत हो गये हैं। समाचार-पत्रों के लिए भी बड़ी मात्रा में कागज की आवश्यकता है। क्यों न ई-न्यूज़पेपर्स को लोकप्रिय बनाया जाय और हमें उन्हें ही पढ़ें! टेलीफोन व नगर निगम के बिल व अपने बैंक खाते की जानकारियाँ भी ई-मेल से मंगायेँ और यदि आवश्यक हो, तभी उनके प्रिन्ट निकालें।

यह समय की माँग है कि हम कागज का कम-से-कम उपयोग करें ताकि वृक्ष अधिक से अधिक बच सकें जिसके लिए हमें इण्टरनेट को सीखना होगा और अधिक-से-अधिक प्रयोग करना होगा।

(दि0 8.7.2010 को दैनिक जागरण में प्रकाशित)

नौकरशाही की बुनियाद बदलनी होगी

हमारे लोकतन्त्र की सफलता अफसरतंत्र पर टिकी है, इससे हम अनभिज्ञ नहीं हैं। नई नीतियाँ हों या नये कानून, उनको शासन व प्रशासन में बैठे अधिकारी ही बनाते हैं। यही नहीं, अच्छे से अच्छा कानून या नीति क्यों न हो, यदि उसे निष्ठा और ईमानदारी से अफसरतंत्र कार्यान्वित नहीं करता है, तो वे रखे रह जाते हैं। सब्सिडी हो, छात्रवृत्ति हो या सरकारी योजनाएँ हों, वे सुपात्रों और अर्ह व्यक्तियों तक पहुँचे, यह अफसरतन्त्र पर ही निर्भर है। कुल मिलाकर प्रायः अधिकारीतंत्र सत्तारूढ़ दल और मन्त्रियों के 'थिंक टैंक' व 'एक्शन टैंक' बन चुके हैं। भारतीय लोकतंत्र में जहाँ विधायक, सांसद व मंत्री अधिक शिक्षित, प्रशिक्षित, अनुभवी व विषय विशेषज्ञ नहीं हैं और उन्हें विशेषज्ञों की सुविधा भी प्रदान नहीं की जाती है व उनकी प्राथमिकताएँ विधायन व नीति-निर्धारण नहीं हैं, वहाँ अफसरतंत्र और अधिक निर्णायक भूमिका में आ जाता है।

लेकिन यह निर्विवाद है कि अफसरतंत्र जनता की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरा है। एक जनपद से दूसरे जनपद और एक विभाग से दूसरे विभाग में शीघ्र व अकारण स्थानान्तरण अफसरतंत्र को कमजोर बना रहा है। चापलूस अधिकारियों को 'मलाईदार कुर्सी' पर बैठाना और उनसे तरह-तरह के लाभों को प्राप्त करना सत्ता दल की एक सोची समझी नीति के अन्तर्गत होता है किन्तु इससे जो सबसे अधिक पीड़ित होती है, वह है बेचारी निरीह जनता, जिसकी सुनवाई के लिए न नेता हैं और न अधिकारी। अधिकारियों की मजबूरी ही कहिए! वे खर्च करके अच्छी कुर्सी पर आये हैं तो उसकी भरपाई तो उन्हें करनी ही है और भविष्य के लिए भी तो कुछ बचाना है, आखिर वे इतनी मेहनत करके इस मुकाम तक पहुँचे हैं तो उनकी कमाई भी कम क्यों हो? वर्तमान व्यवस्था भ्रष्ट अधिकारियों को अधिक रास भी आती है, "खुद भी कमाओ और अपने आकाओं को भी खूब खिलाओ-पिलाओ!" नेताओं की मजबूरी भी तो सोचें, यदि वे अधिकारियों से येन-केन-प्रकारेण लाभ न उठायें तो अगले चुनाव की 'फण्डिंग' कैसे हो?

बिना अफसरतंत्र के न शासन है, न प्रशासन और न हमारा लोकतंत्र। अतः हमारा अफसरतंत्र के बिना गुजारा नहीं है। अफसरतंत्र तो चाहिए ही, किन्तु एक स्वच्छ, समर्पित और कर्तव्यनिष्ठ, जो राजनैतिक कुप्रभाव से दूर रह सके और कानून की पालना जनहित में करे, किन्तु क्या यह वर्तमान परिवेश में सम्भव भी है या मात्र एक दिवास्वप्न है?

सर्वप्रथम तो अफसरतंत्र को 'लोकसेवक' की अपनी भूमिका को अंगीकार करना होगा और उनमें जो 'रूलर' की भावना है, उससे उन्हें बचना होगा। अपने निजी स्वार्थ के लिए राजनीतिक व्यक्तियों से दुरभिसंधि नहीं करनी होगी अपितु अपना आत्म-सम्मान व स्वतन्त्रता बनाये रखनी होगी। इसके साथ-साथ अधिकारीतंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार पर कड़ा अंकुश भी लगाना होगा जिसके लिए लोकायुक्त, सेण्ट्रल व स्टेट विजिलैन्स कमीशन आदि संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देना होगा और प्रभावी बनाना होगा, उनकी भूमिका मात्र संस्तुति वाली न होकर निर्णायक हो। जिस

प्रकार अफसरतंत्र पिछले दो दशकों में भ्रष्टाचार के बल पर धनाढ्य हो गया है वह 'अलार्मिंग' है। भ्रष्टाचरण के मामलों का न्यायालय व प्रशासनिक स्तर पर त्वरित निर्णय होना चाहिए ताकि व्यवस्था से भ्रष्ट बाहर हो सकें और इसके लिए पृथक रूप से न्यायालयों का गठन भी हो। अफसरतंत्र की कार्यप्रणाली को और अधिक पारदर्शी व एकाउण्टेबिल बनाना होगा। ईमानदार व कर्तव्यनिष्ठ अधिकारियों को प्रोत्साहित करना व भ्रष्ट अधिकारियों को शीघ्रता से दण्डित करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। सामाजिक व स्वैच्छिक संस्थानों को भी सूचना अधिकार व 'पब्लिक ऑडिट' के अपने शस्त्रों का जनहित में भ्रष्ट अफसरतंत्र के विरुद्ध निर्भीक रूप से वृहद् स्तर पर उपयोग करना होगा किन्तु सोचें कि उ.प्र. शासन द्वारा सतर्कता आयोग को सूचना अधिकार की परिधि से निकालने की अभी हाल की अधिसूचना आखिर क्या इंगित करती है? क्या हम भ्रष्ट अधिकारियों को किसी न किसी रूप से 'शील्ड' नहीं करना चाहते हैं?

जिन कारणों से अफसरतंत्र 'डीमॉरलाइज़' या भ्रष्ट हो रहा है, हमें उन्हें अच्छी तरह समझना होगा। उन्हें राजनैतिक प्रभाव से यथासम्भव हमें दूर रखना होगा, जिसके लिए स्पष्ट व बाध्यकारी 'ट्रान्सफर पॉलिसी' आवश्यक है ताकि स्थानान्तरण शासन की कृपा या क्रोध पर न हो। कितने वर्ष कहाँ रहना है, यह स्पष्ट हो व उनके अधिकार व दायित्व भी परिभाषित हों। भारतीय प्रशासनिक सेवा जिसके कंधों पर देश का शासन व प्रशासन टिका है, वे किसी एक प्रदेश के कैडर से न बंधे हों व ऑल इण्डिया स्तर पर देश के किसी भी कोने में स्थानान्तरित हों किन्तु ऐसे 'रैडिकल' व 'कोर रिफॉर्म' सत्ता पक्ष की राजनैतिक इच्छाशक्ति पर निर्भर हैं। यक्ष प्रश्न यह है कि क्या सत्ता पक्ष वास्तव में देश और प्रदेश को स्वच्छ, प्रभावी, ईमानदार व निर्णायक प्रशासन देना चाहता है? यदि हमारे प्रतिनिधि व सत्ता के केन्द्रबिन्दु बने शीर्षस्थ निर्वाचित राजनेता ही हमारे हितों के लिए चिन्तित व व्यथित नहीं हैं, तो यह निश्चिततः हमारा दुर्भाग्य ही है, जिसे हम जातिगत व अन्य छोटी सोचों के दायरे से निकलकर 'रिस्पॉन्सिव गवर्नमेण्ट' चुनकर ही संवार सकते हैं।

(दि० 18.10.2010 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

क्षमावान व सरल बनें

“हम अक्षमा रूपी विष प्रतिदिन इस आशा से पीते हैं कि दूसरा व्यक्ति उससे मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा” — कितना विसंगतिपूर्ण विचार है। हम स्वयं गलती करते हैं किन्तु उसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि मान कषाय हमारे आड़े आ जाती है। किसी ने हमारे साथ गलती की है, उसे भी क्षमा नहीं करते हैं क्योंकि हमारा क्रोध अड़चन बन जाता है। अन्ततः हम अपने मन में कुंठायेँ और ग्रन्थियाँ बनाये रखते हैं, जो हमें ही सबसे अधिक हानि पहुँचाती हैं लेकिन क्षमा रूपी महा औषधि को हम नहीं समझ पाते हैं।

कर्मसिद्धान्त हमें यही सिखाता है कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पहुँचाया गया दुःख उसके द्वारा नहीं अपितु हमें अपने कर्मों के उदय से प्राप्त होता है। ऐसा विश्वास हमें शान्त परिणाम देता है और हम समताभाव भी धारण कर सकते हैं।

वस्तुतः हमारी सरलता ही हमें सुख देती है—हमारी कुंठायेँ व कुटिलतायेँ हमें कष्ट देती हैं और मनोवैज्ञानिक व्याधियाँ भी हमारे भीतर उत्पन्न करती हैं। पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू व मित्रों के बिगड़ते सम्बन्ध इन्हीं विकृतियों का कारण हैं।

हम सरल बनें, सहृदय बनें, क्षमा का भाव धारण करें और स्वयं को व अन्योँ को जीतें। जो कुछ हम मन्दिर, स्वाध्याय और सत्संग से सीखें वह हमारे व्यवहार में परिलक्षित हो, ऐसा हमारा सार्थक प्रयास होना चाहिए। मन की उथल-पुथल, कुंठाओं, तनाव, और विसंगतियों से बचने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई सार्थक उपाय नहीं हो सकता।

(दि० 24.11.2010 को दैनिक जागरण में प्रकाशित)

संवेदनशून्य केन्द्र से खण्डपीठ स्थापना की आस

लगभग नौ लाख मुकदमों के बोझ से दबे इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पश्चिमी उत्तर प्रदेश में खण्डपीठ की स्थापना की मांग केन्द्र सरकार की संवेदनशून्यता में उलझी हुई है। राजनेता त्वरित और सुलभ न्याय की दुहाई संसद और उसके बाहर जोर से उठाते हैं किन्तु जब उसे आकार देने की बात आती है तो उनके राजनीतिक स्वार्थ, अनिर्णय और उनकी सोच की कमी अवरोधक बन जाती है।

जरा सोचें कि उच्च न्यायालय की खण्डपीठ स्थापना का संवैधानिक अधिकार संसद का ही है (संविधान की प्रथम सूची की प्रविष्टि-78 के अनुसार) और उसके लिए उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या राज्य की सरकार की सहमति की आवश्यकता नहीं है। केन्द्र सरकार के विधि और न्याय विभाग को लगभग एक दशक पूर्व तत्कालीन अटॉनी जनरल सोली सोराबजी ने लिखित रूप से दिये अपने परामर्श दिनांक 4 दिसम्बर, 2001 में ऐसा ही स्पष्ट किया था। वस्तुतः प्रतिष्ठित व ख्यातिलब्ध न्यायविद् सोली सोराबजी के इस विधिक परामर्श को केन्द्र सरकार ने छिपाये रखा जो कि सूचनाधिकार में प्राप्त सूचना से उजागर हुआ है। हर अवसर पर जब भी यह प्रश्न संसद के सदन में उठा या जनप्रतिनिधि केन्द्र विधिमन्त्री से मिले, तो एक ही उत्तर आया कि हमें इलाहाबाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और उत्तर प्रदेश सरकार की सहमति चाहिए। उच्च न्यायालय की खण्डपीठ की स्थापना का संवैधानिक अधिकार जब केन्द्र सरकार का है, तो राज्य सरकार या मुख्य न्यायाधीश की सहमति की बात करना उसकी संवेदनशून्यता, कर्तव्यहीनता और अनिर्णय को ही दिखाता है।

केन्द्र सरकार द्वारा गठित तीन सदस्यीय जसवंत सिंह आयोग ने 30 अप्रैल, 1985 की रिपोर्ट में सभी पक्षों को सुनने और उनका मत लेने के उपरान्त इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खण्डपीठ को पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आगरा में स्थापित करने की संस्तुति की। लाखों रुपये व्यय करने के बाद भी यह रिपोर्ट केन्द्र सरकार के मन को आखिर क्यों नहीं भाई? केन्द्र सरकार ने इस रिपोर्ट को फुटबॉल बनाकर राज्य सरकार की ओर क्यों धकेल दिया? गृह मंत्रालय से सम्बन्धित संसदीय स्थायी समिति ने वर्ष 1998-99 की अपनी 45वीं रिपोर्ट में जसवंत सिंह आयोग की रिपोर्ट को यथाशीघ्र लागू करने के लिए कहा। पुनः इसे समिति ने वर्ष 1999-2000 की 56वीं रिपोर्ट में उच्च न्यायालयों की खण्डपीठों की स्थापना एवं केन्द्र सरकार द्वारा खण्डपीठ की स्थापना में आने वाली कठिनाईयों को दूर करने के लिये कहा। दुर्भाग्य देखिये, 45वीं व 56वीं रिपोर्ट भी जसवंत सिंह आयोग की रिपोर्ट की भांति धूल फांक रही है।

केन्द्र सरकार अपने दायित्व के निर्वाहन में असफल रही है। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव ने तत्कालीन प्रधानमंत्री पी0वी0 नरसिंह राव को अपने पत्र दिनांक 7 नवम्बर, 1994 के द्वारा यह स्पष्ट कहा था कि उत्तर प्रदेश शासन आम जनता की उपर्युक्त सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए जसवंत सिंह आयोग की संस्तुतियों को स्वीकार करती है और तदनुसार उच्च न्यायालय की खण्डपीठ की स्थापना के प्रस्ताव से सहमत है। किन्तु केन्द्र सरकार ने मामला फिर भी उलझाये रखा। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश खण्डपीठ के लिए सहमत नहीं हुए, चाहे वे मुख्य न्यायाधीश सतीश चन्द्रा थे या मुख्य न्यायाधीश एस.एस. सोढ़ी। किन्तु यक्ष प्रश्न यह है कि जनता को सुलभ न्याय उपलब्ध कराना अधिक महत्वपूर्ण है या मुख्य न्यायाधीशों का अपना व्यक्तिगत नज़रिया। संविधान के अनुच्छेद 39-क के अनुसार विधिक तंत्र इस प्रकार काम करना चाहिए कि समान अवसर के

आधार पर सभी को न्याय सुलभ हो और किसी आर्थिक अथवा अन्य नियोग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अधिकारों से वंचित न रह जाए। किन्तु संविधान की यह पवित्र भावना मात्र काले अक्षरों तक ही बनकर सीमित रह गई है और हम उपहास का पात्र बने हुए हैं।

कितने ही निजी विधेयक, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, तारांकित व अतारांकित प्रश्न लोकसभा और राज्यसभा के पटल पर आये और चले गये लेकिन केन्द्र सरकार अब तक टस से मस नहीं हुई है और सोली सोराबजी के विधिक परामर्श को भी उसने दबाये रखा है। आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की रक्षा की दुहाई देने वाली केन्द्र सरकारों ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश में खण्डपीठ की स्थापना का निर्णय इसलिए नहीं लिया कि कहीं किसी जनपद या क्षेत्र के वोटर उससे नाराज़ न हो जायें। दूरदराज शहरों से इलाहाबाद तक जाना-आना, वहाँ रुकना और मुकदमों की पैरवी करना क्या किसी गरीब नागरिक या अल्प-आय भोगी के लिए सम्भव है? सुदृढ़ न्यायिक व्यवस्था और सुलभ न्याय हमारे लोकतंत्र की रीढ़ की हड्डी है। क्या खण्डपीठ की स्थापना का निर्णय इतना बड़ा है कि केन्द्र सरकार उसे कई दशकों में भी नहीं ले सकी है? जब राजस्व परिषद् या राज्य उपभोक्ता आयोग की खण्डपीठ हो सकती है तो उच्च न्यायालय की क्यों नहीं? अनेक राज्यों में उच्च न्यायालयों की कई-कई खण्डपीठें सफल रूप से कार्यरत हैं। अब समय आ गया है कि केन्द्र सरकार अपनी संवेदनशून्यता को त्यागे, पश्चिमी उत्तर प्रदेश की जनता की खण्डपीठ की बहुप्रतीक्षित मांग की गम्भीरता समझे और अविलम्ब रूप से उसे बनाये। यदि कुछ लोग केन्द्र सरकार के इस निर्णय से स्वार्थवश अप्रसन्न भी हो जाएं, तो केन्द्र सरकार को यह निर्णय अपने संवैधानिक दायित्व के निर्वाहन और न्याय को सुलभ बनाने के लिए लेना ही होगा।

(दि० 23.11.2010 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

संवेदना से परे राजनैतिक नेतृत्व

राजनैतिक नेतृत्व की वर्तमान दशा के दो उदाहरण—आगरा के सांसद डॉ रामशंकर कठेरिया के नेतृत्व में नगर के नागरिकों, उद्यमियों और समाजसेवियों का प्रतिनिधि मण्डल दिनांक 5 मई, 2010 को प्रधानमंत्री डॉ0 मनमोहन सिंह से संसद भवन में मिला और आगरा की पेयजल की समस्या को प्रमुखता से उठाया। माननीय प्रधानमंत्री जी जब हमारी समस्या को सुन रहे थे, तब एक मक्खी प्रधानमंत्री जी के चारों ओर घूम रही थी, प्रधानमंत्री जी बार-बार उस मक्खी को उड़ाने का प्रयास कर रहे थे लेकिन वह उड़ने का नाम ही नहीं ले रही थी और आखिर में उन्होंने उसे उड़ाने का प्रयास बन्द कर दिया और वह मक्खी निश्चिन्तता से उनके मुख पर बैठी रही। प्रधानमंत्री जी प्रतिनिधिमंडल की बात को सुनते रहे। मुझे बेचारे प्रधानमंत्री जी कितने असहाय महसूस हुए कि वे मक्खी को भी नहीं उड़ा सके। भूतपूर्व दूरसंचार मंत्री ए. राजा और उस मक्खी की बात कितनी मिलती-जुलती है, प्रधानमंत्री जी द्वारा 'टू-जी स्पेक्ट्रम' के प्रकरण में कोई प्रभावी हस्तक्षेप ही नहीं कर सके और देश को 1.76 लाख करोड़ का घाटा हो गया। ज़रा सोचें, कि यदि प्रधानमंत्री कार्यालय मच्छर-मक्खी से मुक्त नहीं है तो डेंगू, चिकिनगुनिया, मलेरिया और अन्य महामारियाँ हमारे शहरों में फैलें, तो क्या आश्चर्य है। बैठक की बात और आगे करें, आगरा की पेयजल समस्या सुनने के बाद प्रधानमंत्री जी बोले—“सूबे की सरकार से मिलकर अपनी बात बताइए, ये मामले सूबे की सरकार के अंतर्गत आते हैं।” यदि देश का प्रधानमंत्री पेयजल जैसी मानवीय समस्या पर ऐसी टिप्पणी करे, तो कैसा लगता है? बैठक के समय न कोई वैयक्तिक सचिव था और न ही जो बातें हम कह रहे थे, उन्हें कोई नोट करने वाला था। क्या प्रधानमंत्री कार्यालय की कार्यप्रणाली ऐसी होनी चाहिए थी? हमने अपनी रामकहानी उन्हें सुनाई और प्रधानमंत्री जी ने सुनने की औपचारिकता पूर्ण करके बैठक समाप्त कर दी।

इसके दो माह उपरान्त दिनांक 26.7.2010 को पुनः सांसद कठेरिया के नेतृत्व में आगरा की पेयजल समस्या को लेकर हम महामहिम राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल जी से मिलने गये। उनसे मिलने से पूर्व हमारा खूब आतिथ्य-सत्कार हुआ, चाय-पकौड़े खिलाये गये और हम अपने आप को बड़े 'एलिवेटिड' महसूस कर रहे थे। थोड़ी देर प्रतीक्षा के बाद जब महामहिम जी से मिले और आगरा के पेयजल की समस्या का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया और भूगर्भ-जल में फ्लोराइड, आर्सेनिक और अन्य विशुद्धियों की बात रखी, तो महामहिम जी बोलीं—“आगरा नगर निगम आर0ओ0 क्यों नहीं लगवा देता है?” प्रतिनिधिमण्डल ने अपनी सफाई प्रस्तुत की कि 15 लाख की जनसंख्या वाले शहर में यह कैसे सम्भव है? हमने यह भी कहा कि समस्या से सबसे अधिक प्रभावित निचले तबके की जनता है और शुद्ध पानी तो पीने के लिए मिलना ही चाहिए, जिसके लिए बैराज बनना चाहिए। बैठक के दौरान महामहिम जी को एक मंहगी पुस्तक भी हमने भेंट की, राष्ट्रपति भवन के फोटोग्राफर ने हमारी सुन्दर फोटो खींची और बैठक समाप्त हुई। हम लोग राष्ट्रपति भवन से बाहर निकल ही रहे थे कि महामहिम जी के स्टाफ का एक व्यक्ति पसीने से लथपथ दौड़ता हुआ आया और उसने पूछा कि “क्या आपके पास एक और वैसी ही पुस्तक है, महामहिम जी चाहती हैं? एक और पुस्तक को शीघ्र पहुँचाने का वायदा कर हम राष्ट्रपति भवन से बाहर आ गये, लेकिन मेरे मन में यह विचार बना रहा कि क्या देश की प्रथम नागरिक महामहिम जी को इस प्रकार एक पुस्तक की और मांग करनी चाहिए थी और क्या यह पद की गरिमा के अनुकूल था?

यह दो उदाहरण कुल मिलाकर यह तस्वीर प्रस्तुत करते हैं कि हमारा राजनैतिक नेतृत्व समस्याओं के समाधान के स्थान पर समस्या को फुटबॉल की तरह से इधर से उधर ही सरकाना चाहता है। कोई अच्छी पहल करने की जगह पर मात्र बैठकों की और मुलाकातों की औपचारिकता निभाना ही राजनीतिज्ञों का धर्म बन गया है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खण्डपीठ की मांग विगत लगभग तीन दशकों से अनवरत् चली आ रही है लेकिन चाहे वो प्रदेश सरकार हो या केन्द्र सरकार किसी के द्वारा भी अभी तक उस पर गम्भीरता से चिन्तन-मनन या निर्णय नहीं लिया गया है। न्यायपालिका, जो कि हमारे लोकतन्त्र का मुख्य स्तम्भ है, अनेक कारणों से कमजोर है किन्तु उसे निष्पक्ष, सशक्त, स्वावलम्बी और प्रभावी बनाने की भूमिका में राजनीतिज्ञ कोई पहल नहीं करते हैं किन्तु यदि न्यायपालिका की आलोचना करने का ज़रा भी मौका मिले तो वे पीछे नहीं रहते हैं। हमारे यहाँ न्यायाधीशों की संख्या मुकदमों के सापेक्ष में शायद दुनिया में सबसे कम है किन्तु न हम न्यायालयों के नये भवन बनाना चाहते हैं और न ही न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाना चाहते हैं। नीतिगत मामलों में हमारे नेतृत्व का 'विज्ञान' इतना कमजोर है कि हम वर्षों तक निर्णय ही नहीं लेना चाहते हैं। न्यायालयों में अधिकांश मुकदमों सरकार के विरुद्ध ही हैं किन्तु समस्याओं के समाधान के लिए 'इन-हाउस सैटलमैन्ट' की कोई रणनीति नहीं बनाई गई है।

सरकार किसी भी 'जैन्युन' समस्या को सुनने व उसके समाधान के लिए भी तैयार नहीं होती है। बिना हड़ताल, धरना, विरोध या प्रदर्शन के आखिर राजनैतिक नेतृत्व किसी समस्या पर क्यों नहीं विचार करना चाहता है और समस्या जब 'कैंसर' का रूप बन जाती है तभी क्यों हमारे नेता जागते हैं? संसद हो या विधानसभा, विधेयकों पर बहस औपचारिकता ही होती है और कानून सांसद और विधायक नहीं बल्कि 'बाबू' बनाते हैं और नाम विधायिका का होता है। संसदीय समितियों की संस्तुतियाँ भी अधिकांशतः सरकार के कूड़ेदान का हिस्सा बनती हैं। नीति-निर्धारण में जनसहभागिता नगण्य है क्योंकि जितनी भी नीतियाँ व योजनाएँ बनती हैं वे जनअपेक्षाओं के अनुरूप नहीं होती हैं।

आवश्यक इस बात की है कि राजनैतिक नेतृत्व समय रहते हमारी समस्याओं को व उनके मानवीय, सामाजिक व आर्थिक पक्ष को भलीभाँति समझे और राष्ट्र व समाज हित में अपनी निर्णायक भूमिका अदा करे, लेकिन यह सब तभी सम्भव हो सकेगा जब हम ऐसे प्रतिनिधियों को चुनकर भेजेंगे जो राष्ट्र और समाज सेवा के लिए समर्पित व प्रतिबद्ध हों। जब तक हम जाति, धर्म, निजी स्वार्थ और अन्य संकीर्ण भावनाओं को छोड़कर अच्छी सरकारें नहीं चुनेंगे, तब तक हम अपनी चुनी हुई सरकारों के अनिर्णय, अक्षमता, भ्रष्टाचार व संवेदनहीनता के दंश को सहते ही रहेंगे।

(दि0 4.1.2011 को डी.एल.ए. में प्रकाशित)

महिलाओं को अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी होगी!

युगों से चला आ रहा पुरुष प्रधान समाज, महिलाओं के आर्थिक स्वावलम्बन का अभाव, उनको घर की चाहरदीवारी में रखने की मानसिकता, शारीरिक व मानसिक रूप से यातनाएँ, उनका प्रायः शोषण एवं उत्पीड़न, उनमें व्याप्त भय एवं अशिक्षा, जटिल कानून व कमजोर न्यायतंत्र आदि ऐसे दुःखद कारण हैं जिनके चलते आधी दुनिया अपनी सामाजिक समानता के अधिकार से वंचित है। इस सम्बन्ध में अनेकों यक्ष प्रश्न अनुत्तरित हैं।

हम कहते हैं—“बेटा-बेटी एक समान”, “दहेज ही दुल्हन है”, “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता” आदि। पूजन के समय सीता-राम, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-गणेश की अराधना करते हैं और शक्तिदायिनी व कष्टनिवारिणी देवियों को पूजते हैं किन्तु जब व्यवहार में बेटियों को बेटों की भांति समानता देने की बात आती है, तो हम कहीं पीछे रह जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो बड़े स्तर पर कन्या-भ्रूण हत्या जैसे महापाप को सामाजिक मान्यता क्यों मिलती? लिंग-निर्धारण जाँच को अपराध घोषित करने की आवश्यकता क्यों होती? महिलाओं की कम संख्या अपनी कष्टप्रद कहानी को स्वयं ही बयां करती है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार प्रति एक हजार व्यक्ति के सापेक्ष में महिलाओं की संख्या मात्र 940 है, जो कि उ.प्र. में 908 ही है। देश में महिलाओं की संख्या में कमी है लेकिन “विवाह बाजार” में दहेज की मांग बढ़ती जा रही है, जिसके लिए उनके उत्पीड़न और हिंसा की घटनाओं में भी वृद्धि हो रही है।

आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की महिलाओं की स्थिति और भी अधिक दयनीय है। पति शराब पीने एवं अनेकों प्रकार के व्यसनो में लिप्त हैं और पत्नियों को शारीरिक यातनाएँ देते हैं। जीवनयापन हेतु वे छोटे-छोटे कार्य भी करती हैं किन्तु पतियों पर निर्भरता के चलते उनके पास सबकुछ सहने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता शेष नहीं है, आखिर वे जायें तो जायें कहाँ? स्वास्थ्य और शिक्षा के मामलों में भी वे पुरुषों से काफी पिछड़ी हुई हैं। नवीन जनगणना के अनुसार महिला साक्षरता की औसत राष्ट्रीय दर 65.46 प्रतिशत है जो कि उ.प्र. में मात्र 59.26 प्रतिशत ही है अर्थात् उ.प्र. की 100 महिलाओं में से 40 महिलाएँ तो निरक्षर हैं जो किसी भी भाषा को पढ़ व लिख नहीं सकती हैं। स्वतन्त्रता के 64 वर्षोपरान्त भी यह स्थिति हमारे लोकतंत्र पर क्या प्रश्नचिह्न नहीं है?

महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों ने भी उनकी मनःस्थिति पर विपरीत प्रभाव डाला है और उन्हें कमजोर बनाया है। भारत के ‘राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो’ की वर्ष 2009 की रिपोर्ट (दिनांक 29.12.2010) के अनुसार महिलाओं के विरुद्ध हुए अपराधों की संख्या 2,03,804 थी, जो कि देश में हुए कुल अपराधों का 9.6 प्रतिशत थी, जो कि कुल आर्थिक अपराध 91,979 की तुलना में 2.21 गुने थे। बलात्कारों का प्रतिशत वर्ष 1971 की तुलना में वर्ष 2009 में 7.6 गुना बढ़ गया जबकि सजा का प्रतिशत मात्र 27.8 ही है। कुल मिलाकर महिलाओं के प्रति अपराधों में वृद्धि हो रही है और सजा की दर में कमी है, जिससे महिलाएँ भयाक्रान्त हैं। बड़ी संख्या में महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों का पंजीकरण ही नहीं होता है। घरों के अतिरिक्त कार्यालयों और सार्वजनिक स्थानों

पर भी महिलायें असुरक्षित वातावरण है। विवाह कानून भी कठिन है, तलाक की कानूनी प्रक्रिया प्रायः उलझी ही रहती है और दोषी पक्ष दण्डित भी नहीं हो पाता है। विवाह टूटने पर महिलाएँ ही अधिक पीड़ित होती हैं। वे आर्थिक रूप से स्वावलम्बी नहीं हैं, जिसके चलते पी. चिदम्बरम द्वारा केन्द्र सरकार की नौकरियों में 33 प्रतिशत आरक्षण महिलाओं को देने के लिए शीघ्र विधेयक लाने की बात जून 2009 में कही थी किन्तु परिणाम वही रहा 'ढाक के तीन पात'। सुप्रीम कोर्ट में 30 जजों में मात्र एक महिला जज है और हाईकोर्ट में 600 जजों में से मात्र 43 महिला जज हैं। वर्ष 2004 में केन्द्र सरकार के कर्मचारियों में महिलाएँ 9.68 प्रतिशत ही थीं।

यदि हम महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हमारे सामाजिक चिन्तन में परिवर्तन हो, जिसके लिए समाजशास्त्रियों और सामाजिक व स्वैच्छिक संगठनों को आगे आना ही पड़ेगा। दहेज और विवाहों में होने वाले भारी व्यय को एक सामाजिक बुराई मानते हुए उसका विरोध करना होगा। सामाजिक जागृति लानी होगी और इसी के साथ-साथ महिलाओं को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए महिला मण्डल व एक्शन ग्रुप बनाने होंगे जैसे—सम्पत देवी पाल नामक महिला ने बुन्देलखण्ड में जागरुक महिलाओं का "गुलाबी गैंग" वर्ष 2006 से बनाया हुआ है जो हाथों में लाठी रखती हैं और पत्नियों को पीड़ित करने वाले पतियों को पीटने के लिए और दहेज उत्पीड़न का विरोध करने के लिए सदैव तत्पर हैं। महिलाओं में शिक्षा के स्तर को बढ़ाना होगा, उनके प्रति अपराधों की सुनवाई हेतु प्रत्येक स्तर पर विशेष अदालतों का गठन करना होगा ताकि त्वरित गति से उन्हें न्याय भी मिल सके। कानून की कमियों को भी दूर करना होगा और आवश्यक हो तो नये कानून बनाये जायें और उनका प्रभावी कार्यान्वयन सुनिश्चित हो। इसके साथ-साथ ही आयकर, सम्पत्ति-कर, गृह-कर व स्टाम्प-शुल्क में भी छूट बढ़ानी होगी ताकि वे अधिक सम्पत्तियों की धारक बनें। कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि मात्र महिला आरक्षण से या उच्चासीन पद जैसे राष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष या किसी बड़ी राजनैतिक पार्टी की अध्यक्षता बनाने से ही महिलाओं की स्थिति में कोई सुधार नहीं होने वाला है अपितु महिलाओं को अपने अधिकारों की लड़ाई स्वयं लड़कर भी जीतनी होगी।

दि० को डी.एल.ए. में प्रकाशित

संशोधित हो भूमि अधिग्रहण कानून

भूमि अधिग्रहण को लेकर नोएडा के भट्टा पारसौल में हिंसक घटनाओं की पुनरावृत्ति हुई है। 70 के दशक में भी महाराष्ट्र में किसानों द्वारा भूमि अधिग्रहण के विरुद्ध की गई हिंसक घटनाओं के कारण केन्द्र सरकार को वर्ष 1984 में भूमि अधिग्रहण कानून में संशोधन करना पड़ा था। तथापि भूमि अधिग्रहण कानून किसानों के शोषण का यन्त्र बना रहा। हम देशव्यापी हिंसक घटनाओं के साक्षी हैं—चाहे वो सिंगूर या दादरी की हो, घोड़ी बछेड़ा की हो या फिर भट्टा पारसौल की। ज्वलन्त प्रश्न अब यह है कि आखिर जन-अपेक्षाओं के अनुरूप भूमि अधिग्रहण कानून कब बनेगा?

केन्द्र की संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार भूमि अधिग्रहण कानून के संशोधन को लेकर गंभीर नहीं है। 14वीं लोकसभा में गठबंधन सरकार ने भूमि अधिग्रहण कानून को संशोधित करने हेतु विधेयक (संख्या 97 वर्ष 2007) लोकसभा में दिनांक 6.12.2007 को प्रस्तुत किया जो अगले ही दिन ग्रामीण विकास मंत्रालय की स्थायी समिति को संदर्भित हुआ। समिति की संस्तुतियाँ दिनांक 21 अक्टूबर, 2008 को लोकसभा में प्रस्तुत हुईं। कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि केन्द्र सरकार ने सभी संस्तुतियों को अनदेखा कर दिया और मूल रूप में ही विधेयक को लोकसभा में मार्च 2009 में पारित कराया। यह विधेयक राज्य सभा से पारित न हो सका और 14वीं लोकसभा के भंग होने के कारण अंततः कानून भी नहीं बन पाया किन्तु यह घटनाक्रम केन्द्र सरकार की एकतरफा और मनमानी सोच का स्पष्ट प्रमाण है।

केन्द्र और राज्य सरकारें बढ़-चढ़कर बातें तो किसानों के हितों की करती हैं किन्तु जब व्यावहारिक और किसान हितोन्मुखी कानून बनाने का अवसर आता है, तो परिणाम वही ढाक के वही तीन पात! पिछली बार जब टप्पल में हिंसा हुई तो राहुल गांधी वहाँ गये थे और प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने भूमि अधिग्रहण कानून में बजट सत्र में ही संशोधन का वायदा किया था किन्तु वह पूर्ण नहीं हुआ। अब राहुल गांधी भट्टा पारसौल गये और प्रधानमंत्री ने मानसून सत्र में कानून में संशोधन करने की बात दोहराई। क्या संशोधन हो सकेगा? भूमि अधिग्रहण कानून में संशोधन करने का अधिकार राज्य सरकारों को भी है (संविधान के 7वें परिशिष्ट की संवर्ती सूची के अनुसार) किन्तु राज्य सरकारों द्वारा भी संशोधन की पहल नहीं की गई, अतः केन्द्र सरकार की कमी बताकर राज्य सरकारें भी दोषमुक्त नहीं हो सकती हैं। राज्य सरकारों ने अपने अलग कानून भी बनाये हैं जिनमें अनेक विसंगतियाँ भी हैं। उत्तर प्रदेश में बनाया गया आवास एवं विकास परिषद् अधिनियम, 1965 भी एक ऐसा ही उदाहरण है जहाँ मुआवजे को निर्धारित करने अथवा भुगतान करने की कोई समय सीमा ही नहीं है जबकि केन्द्र द्वारा बनाये गये भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 में दो वर्ष की समय सीमा निर्धारित है। केन्द्र सरकार द्वारा बनाये गये राष्ट्रीय राजमार्ग अधिनियम, 1956 के अंतर्गत जब भूमि केन्द्र सरकार द्वारा ली जाती है तो भू-धारक को ब्याज और सांत्वना राशि नहीं दी जाती है। स्टाम्प अधिनियम के अंतर्गत बाजार मूल्य में जिलाधिकारी निर्धारित करते हैं किन्तु जब मुआवजे के भुगतान का मौका आता है तो निर्धारित दरों को नहीं माना जाता है। यही नहीं, मुआवजा निर्धारण की प्रक्रिया भी लम्बी, खर्चीली, थकाऊ व भू-धारक विरोधी है। भिन्न-भिन्न प्रकार के भूमि

अधिग्रहण कानून, उनका मनमाना प्रयोग, उनमें व्याप्त विसंगतियाँ और अव्यवहारिकताएँ, भुगतान में विलम्ब आदि भूमि अधिग्रहण कानून के अनेक विचारणीय पहलू हैं।

कितनी ही संसदीय समितियों ने भूमि अधिग्रहण कानून को लेकर अपनी विस्तृत आख्यायें दी हैं, अनगिनत प्रश्नों, ध्यानाकर्षण प्रस्तावों व संसदीय भाषणों के द्वारा किसानों की व्यथा संसद और विधान मण्डलों में गूँजी है। अब यह नितान्त आवश्यक है कि केन्द्र सरकार व राज्य सरकारें जागें, नेता और राजनैतिक दल नाटक और तमाशों के स्थान पर भूमि अधिग्रहण कानून को व्यवहारिक, तथ्यपरक और जनोन्मुखी बनाने में अविलम्ब रूप से जुटें जो किसी भी स्थिति में भूधारकों के लिए हानिप्रद न हो। अधिग्रहण कानूनों में एकरूपता भी हो, मुआवजे के प्रकरण समयबद्ध रूप से न्यायालयों द्वारा निस्तारित हों व वास्तविक मुआवजा प्राप्त करने का भू-धारकों का अधिकार किसी भी तकनीकी कारण से प्रभावित न हो। निर्धारित समयावधि में यदि अर्जित भूमि का उपयोग सरकार या उसकी संस्थाएँ न कर सकें तो भूमि मूल भू-धारकों को वापिस हो ताकि आवश्यकता व संसाधनों से अधिक भूमि के अधिग्रहण की कुसंस्कृति पर प्रभावी अंकुश लग सके। घटती हुई कृषि भूमि और बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव को देखते हुए शहरी भूमि के आदर्श प्रबन्धन व उपयोग हेतु भी सम्यक् नीति बननी चाहिए, जिसमें विशिष्ट रूप से उत्कृष्ट इन्फ्रास्ट्रक्चर सुविधाएँ, अधिक जनसंख्या घनत्व व वर्टिकल ग्रोथ को स्थान देना चाहिए।

संशोधन कानून का क्या मसौदा हो? क्यों न इस पर भी लोकपाल विधेयक की भांति किसानों के संगठन या सिविल सोसायटी की सहभागिता हो और देशव्यापी बहस हो? भारत जैसे विकासशील देश के लिए व्यवहारिक व जनग्राह्य भूमि अधिग्रहण कानून एक अपरिहार्य आवश्यकता है। अब इस जटिल समस्या के सार्थक प्रयास हेतु राजनैतिक दलों को नीतिगत निर्णय लेने के साहस और राजनैतिक परिपक्वता का परिचय देना होगा। संशोधन के मसौदे का राजनीतिकरण भी नहीं होना चाहिए। कुल मिलाकर हमें यथाशीघ्र भूमि अधिग्रहण हेतु व्यवहारिक, गैर-राजनैतिक एवं जनोन्मुखी कानून को राष्ट्रहित में बनाना होगा ताकि जनप्रयोजनों के लिए नितान्त आवश्यक भूमि को सुगमतापूर्वक व निर्विरोध अर्जित किया जा सके और राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके।

(डी.एल.ए. में दि० 24.5.2011 को प्रकाशित)

पर्यावरण के प्रति संवेदनहीनता

चहुँओर पर्यावरण के प्रति हमारी संवेदनहीनता दिख रही है। जैसा पर्यावरण हमें विरासत में मिला, उसे हम निरन्तर बिगाड़ रहे हैं, चाहे वह भूगर्भ जल हो, नदियाँ हो, पर्वत हों, वन हों, जीव-जन्तु हों या कृषि भूमि। लुप्त होती तितलियाँ, भंवरे, गिद्ध, गौरैया, जुगनू और गिरगिट, प्लास्टिक का बढ़ता हुआ उपयोग और ओज़ोन की घटती हुई पर्त अपनी कहानी स्वयं बयां कर रहे हैं। बढ़ता हुआ शहरों का कोलाहल और कंक्रीट की इमारतें भी हमें प्रकृति से कहीं दूर ले जा रही हैं। बिगड़ता पर्यावरण हमारे जीवन को भी कठिन बना रहा है। हर वर्ष पर्यावरण दिवस (5 जून) पर हम पर्यावरण की बात करते हैं किन्तु पूरे वर्ष हमारे क्रियाकलापों में पर्यावरण के प्रति हमारी गंभीरता के स्थान पर उपेक्षा और अवहेलना ही दिखाई देती है।

बढ़ती जनसंख्या व शहरीकरण से कृषि भूमि निरन्तर घट रही है। वर्तमान में लगभग 28 प्रतिशत व्यक्ति शहरों में रह रहे हैं जो वर्ष 2021 तक बढ़कर 40 प्रतिशत हो जायेंगे। शहरों की प्लानिंग या तो है ही नहीं, या फिर मात्र कागजों तक ही सीमित है। वहाँ अनियंत्रित विकास है, पेयजल की कमी बढ़ती जा रही है, हैण्डपम्प सूख रहे हैं, ड्रेनेज और सीवर निस्तारण की व्यवस्था कमजोर है या न के बराबर है व अवस्थापना सुविधाओं की कमी भी है, वृक्षों के अंधाधुंध कटान और प्लास्टिक के असीमित प्रयोग के कारण शहरी व्यक्तियों का जीवन बुरी तरह प्रभावित हो रहा है और तरह-तरह की बीमारियाँ भी जन्म ले रही हैं। भू-गर्भ जल का स्तर प्रतिवर्ष 1 से 3 मीटर तक गिरता जा रहा है व उस पर बढ़ता हुआ फ्लोराइड और आर्सेनिक पानी को विषैला बना रहा है। पर्यावरण के समस्त नियम ताक पर रखकर अनाधिकृत निर्माण और विकास निरन्तर हो रहा है। 'डार्क-जोन' वाले ग्रामीण क्षेत्रों में भी किसान अधिक पानी वाली फसलें करते हैं और खेतों की मेड़बन्दी व सिप्रिंकलर-सिस्टम से सिंचाई की ओर कोई ध्यान ही नहीं है। रासायनिक खादों और कीटनाशकों का अत्यधिक प्रयोग धरती को बंजर बना रहा है। कुल मिलाकर हम भारत के शहरों और गांवों में पर्यावरण को भयावह रूप से नुकसान पहुंचा रहे हैं, जिससे हमारा भविष्य भी अंधकार में ही दिखता है।

यही नहीं, हमारी सभ्यता, आस्था और विश्वास की स्रोत नदियाँ अब गन्दे नालों का रूप ले चुकी हैं। हम उनमें खतरनाक व विषैले औद्योगिक रसायनों, सीवर व गन्दे पानी को डालने में किंचित मात्र भी संकोच नहीं करते हैं। भूगर्भ जल को प्रदूषित करने में भी हमें कोई भय नहीं है, हम लालच और स्वार्थ में लिप्त हैं। विचार करें कि पर्यावरण में हो रहे हास से जो सबसे अधिक नुकसान हो रहा है तो वह है आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों का, जो प्रदूषित जल पी रहे हैं, प्रदूषित प्राण-वायु लेने को बाध्य हैं, बीमारियों से जूझ रहे हैं, अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में अपना जीवनयापन कर रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण प्रोग्राम में पहली बार भारत को अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण दिवस-2011 के लिए वैश्विक मेज़बान बनाया है जिसका थीम है—“वन—पर्यावरण आपकी सेवा में”। पूरी दुनिया में वनों की कटाई भयानक तरीके से हो रही है व प्रतिवर्ष 1 करोड़ 30 लाख हेक्टेयर भूमि के

वन काट दिये जाते हैं। 120 करोड़ की जनसंख्या वाले भारतवर्ष में भी वनों पर बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव है।

यह भी विचारणीय है कि हम अपनी निजी भूमि पर वृक्षारोपण नहीं करना चाहते हैं क्योंकि उन्हें काटने की अनुमति वन विभाग साधारणतः नहीं देता है जिसका नकारात्मक प्रभाव वृक्षारोपण पर है। जिन भूमियों का भविष्य में नगरीकरण हो सकता है, उन पर भी हम वृक्ष लगाने से डरते हैं। क्यों न केन्द्र व राज्य सरकारें निजी भूमि पर उगे वृक्षों के कटान की अनुमति की नीति का पुनर्विचार करें और परिवर्तित करें?

यह अब नितान्त आवश्यक है कि हम पर्यावरण के प्रति समाज में हर स्तर पर जागरूकता उत्पन्न करें, नालों के पानी को रीसाइकिल कर पार्कों और हरियाली को सींचने में उपयोग करें। भूगर्भीय जल को 'साझा सम्पत्ति' समझते हुए उसका विवेकपूर्ण उपयोग करें। बरसाती पानी को नदी-नालों में न जाने दें और जल संचयन करें या सुरक्षित रूप से सीधे उसे भूगर्भ में रीचार्ज करें। नदियों के किनारे बीहड़ों में बरसाती जल व नदी के जल का भी संचयन किया जा सकता है। नालों के पानी को नदी में डालने के स्थान पर आगरा के 'ककरैठा वैटलैण्ड परियोजना' की भांति नदियों के किनारे वैटलैण्ड बनाई जाय, जिसका दोहरा लाभ होगा—नदियाँ प्रदूषित होने से बचेंगी और भूगर्भ जल रीचार्ज होगा जो हरियाली को बढ़ायेगा। अधिक से अधिक वृक्ष हमें लगाने होंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर के सामने भी वृक्ष लगाये और उसकी देखभाल करे। ताज नेचरवाँक में 'स्मृति-वन' की पहल भी पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता बढ़ाने हेतु एक अच्छा कदम है, जिसे 'रिप्लीकेट' किया जा सकता है। शहरी क्षेत्रों में वृक्षों की वार्षिक गणना भी एक अच्छी पहल हो सकती है। नालियों के किनारे वृक्षारोपण से वृक्षों की संवृद्धि सुनिश्चित हो सकेगी। नदियों पर चैकडैम और बैराज भी बनाने होंगे।

विद्यालयों में शुरू से ही विद्यार्थियों के मध्य पर्यावरण के प्रति सघन जागृति उत्पन्न की जानी चाहिए। ग्रीन-बिल्डिंगों को प्रोत्साहित भी करना होगा और गैर-परम्परागत ऊर्जा के स्रोतों को और लोकप्रिय बनाना होगा। खाली पड़ी हुई सरकारी जमीनों पर 'प्राइवेट पब्लिक पार्टिसिपेशन' के सिद्धांत पर हरियाली करने और वृक्षारोपण के अभियान को आगे चलाया जा सकता है।

डी.एल.ए. में दि० 4.6.2011 को प्रकाशित

आ सकती है पानी की भी आफत

कुंए सूख चुके हैं, बोरवैलों का जलस्तर हर वर्ष गिर रहा है, अधिकांश हैण्डपम्प भी सूख रहे हैं, सरकारी एजेन्सियों की पानी की टंकियाँ जलापूर्ति के अभाव में यों ही बेकार खड़ी हैं, पेयजल की कमी को लेकर बस्तियों और आबादियों में गर्मी के दिनों में रोज कोई न कोई विवाद समाचार-पत्रों की सुर्खियाँ बनता है, भूगर्भ जल में फ्लोराइड और आर्सेनिक बढ़ रहा है और वह बीमारियों को जन्म दे रहा है, कुंओं का स्थान सबमर्सिबल-पम्पों ने ले लिया है, जिनकी संख्या दिनों-दिन बढ़ रही है। आवश्यकता से कहीं अधिक पानी का दोहन हो रहा है और बचत का भाव है ही नहीं। इस निराशाजनक परिदृश्य के उपरान्त भी हम कुछ ऐसे आश्वस्त हैं जैसे चिन्ता का कोई विषय ही नहीं है।

उ.प्र. शासन ने भूगर्भ जल की समस्या से निपटने के लिए उ.प्र. भूजल संरक्षण, सुरक्षा एवं विकास (प्रबन्धन, नियंत्रण एवं विनिमयन) विधेयक का मसौदा बनाया किन्तु वह चर्चा तक ही सीमित रह गया। भूगर्भ जल का अधिकतम दोहन (82 प्रतिशत) कृषि में हो रहा है लेकिन किसान भी शहरवासियों की भांति समस्या के समाधान के लिए चिन्तित नहीं है, गहरी और गहरी बोरिंग करने और बड़ी से बड़ी सबमर्सिबल-पम्प लगा रहे हैं, उनकी सोच खेतों की मेड़बंदी, जल-संचयन या जल-संरक्षण की ओर जाती ही नहीं है और न ही वह फसलों का चयन जल की कमी को देखते हुए करते हैं, सिंचाई के उन्नत तरीकों में भी उसका विश्वास न के समान है।

शहरी क्षेत्रों में बड़े आवासीय, औद्योगिक व सामुदायिक भवनों में जल-संचयन (वॉटर हारवैस्टिंग) की अनिवार्यता है किन्तु भवनों को बनाने में हम बड़ी राशि व्यय करते हैं किन्तु रूफ टॉप वॉटर हारवैस्टिंग की आवश्यकता नहीं समझते हैं। पुराने आवासीय व अन्य भवनों में तो वॉटर हारवैस्टिंग की न तो अनिवार्यता है और न वह हमारी सोच का भाग है। आर.ओ. प्लान्ट शहरों में दिन-प्रतिदिन खरपतवार की भांति उगने लगे हैं लेकिन न तो वे गुणवत्तायुक्त पानी की आपूर्ति कर रहे हैं और न ही जल शोधन की प्रक्रिया में अशुद्ध बचे हुये जल का उचित उपयोग ही करते हैं। पहले कुंओं से पानी हम अपनी आवश्यकतानुसार घड़ों में पीने के लिए निकालते थे या बैलों से रहट के माध्यम से सिंचाई करते थे लेकिन अब तो हजारों लीटर पानी पम्प के बटन दबाने मात्र से ही निकल जाता है, चाहे उसकी हमें आवश्यकता भी न हो।

जब भी भूगर्भ जल को बचाने की बात उठती है, तो हम केवल बारिश में छतों पर आने वाले वर्षा जल के संचयन तक ही सीमित रह जाते हैं लेकिन जल प्रबन्धन को समग्रता से नहीं समझ पाते हैं। मात्र जल संचयन से हम सफल नहीं होंगे अपितु प्रयोग हुए जल की रीसाइक्लिंग की प्रमुख आवश्यकता को हमें समझना होगा; जैसे— स्नानागार के प्रयोग हुआ पानी हरियाली की सिंचाई में या धुलाई में या शौचालय में प्रयोग होना चाहिए। यह भी उचित नहीं है कि हम बड़े-बड़े पब्लिक पार्कों की सिंचाई भूगर्भ से लाखों लीटर जल निकालकर करें और उनके पास से गुजर रहे नालों का पानी नदियों को

प्रदूषित करे? आवश्यकता यह है कि नालों के पानी को सिंचाई योग्य शोधित कर पाकों की हरियाली को बढ़ाया जाय, जिसका दोहरा लाभ होगा—नदियों का प्रदूषण बचेगा और भूगर्भ जल भी।

हमारी मानसिकता स्व-अनुशासन की नहीं है। यदि पुलिस चौराहे पर नहीं है तो लाल बत्ती पर क्यों रुकें और हैलमेट क्यों पहनें? ऐसी मानसिकता के साथ हम स्वयं भूगर्भ जल का सम्यक् उपयोग कैसे कर सकते हैं? जब तक भूगर्भ जल के संचयन, संरक्षण और नियमन हेतु प्रभावी कानून नहीं बनेगा, हम उसका अपव्यय करेंगे और बहुत देरी हो जायेगी। कुछ राज्यों में कानून बना है किन्तु अधिकांश राज्य सरकारें अपने वोटबैंक में सेंध लगाने के भय से कानून बनाना ही नहीं चाहती हैं। क्यों न जल संचयन और जल संरक्षण के लिए केन्द्र सरकार सुविचारित कानून बनाये ताकि भूगर्भ जल के स्रोतों की होने वाली अपूर्णनीय क्षति को रोकने की दिशा में एक सार्थक कदम उठ सके। कानून बनाने के साथ-साथ यह भी आवश्यक होगा कि हम वृहद् स्तर पर जनजागृति और संवेदनशीलता उत्पन्न करें क्योंकि बनाये जाने वाला कानून व्यापक रूप से सभी वर्गों को प्रभावित करेगा, जिसकी सफलता उसकी अनुपालना पर निर्भर करेगी, जिसे उत्पीड़ित करके सुनिश्चित कराना भी आज के इस माहौल में संभव नहीं है।

जल समस्या को लेकर किये गये एक सर्वेक्षण में 69% व्यक्तियों ने कानून बनाने की वकालत की है और 66% लोगों ने जलापूर्ति के कार्य को निजी हाथों में दिये जाने का समर्थन किया, 90% व्यक्तियों ने भविष्य में पेयजल को लेकर आपसी विवाद और सामाजिक तनाव बढ़ने की बात स्वीकारी। 77% व्यक्तियों ने जलापूर्ति को मीटर के माध्यम से किये जाने और उपभोक्ता से जल का मूल्य लिये जाने की सहमति दी, 90% व्यक्तियों ने यह माना कि उनके घर में वर्षा जल संचयन की कोई व्यवस्था नहीं है। सर्वेक्षण के निष्कर्षों पर भी हमें ध्यान देना होगा, यह भी निश्चित है कि जल समस्या के समाधान के लिए सामाजिक संगठनों को भी आगे आना होगा और घर-घर में और खेत-खेत तक इस कठिन समस्या के समाधान की ओर अग्रसर होना होगा। यदि समय रहते हम नहीं जागे और वर्षा जल की प्रत्येक बूंद को हमने नहीं संजोया, जल प्रबंधन के महत्व को नहीं हृदयंगम किया, भूगर्भ जल को स्वर्ण से अधिक मूल्यवान नहीं समझा व भूगर्भ जल की साझा सम्पत्ति का अपव्यय किया, तो निश्चिततः भविष्य अंधकार में है और हमारी भावी पीढ़ियाँ हमें कोसेंगी जिनके अस्तित्व पर कदाचित् प्रश्नचिन्ह भी होगा!

डी.एल.ए. में दि० 10.6.2011 को प्रकाशित

निजी क्षेत्र को दो सुधार की चाभी

शहरों में निरन्तर बढ़ती जनसंख्या, सिकुड़ती सड़कें और रेंगता ट्रैफिक, कई-कई घण्टों की विद्युत कटौतियाँ, उफनते नाली-नाले और सीवर लाइनें, जल संस्थानों द्वारा अपर्याप्त व प्रदूषित जलापूर्ति, निरन्तर गिरता भूगर्भ जलस्तर, कंक्रीट के ऊँचे-ऊँचे भवन और सड़कों पर बढ़ते अतिक्रमणों के मध्य शहरवासियों का जीवन प्रतिदिन कठिन हो रहा है। स्थानीय निकाय और शासकीय संस्थाएँ इस कष्टप्रद स्थिति में कोई गुणात्मक सुधार लाने में असफल ही है। जवाहरलाल नेहरू अरबन रिनुअल मिशन का भी कोई विशेष प्रभाव दिखाई नहीं दे रहा है। ऐसे परिदृश्य में निजी संस्थाओं का सक्रिय योगदान व भागीदारी से शहरों की स्थिति में किस प्रकार सकारात्मक परिवर्तन आ सकता है, इस विषय पर शासन में विचार मंथन चल रहा है और निजी क्षेत्र की सहभागिता के नये मॉडल बनाने का भी प्रयास है। विचारणीय है कि किस प्रकार व किन क्षेत्रों में निजी संस्थाओं के सहयोग से शहरों की स्थिति में सुधार संभव है।

इस दिशा में पहला कदम यह होगा कि निजी संस्थाओं, कॉर्पोरेट्स, गैर-सरकारी संस्थाओं व आर.डब्ल्यू.ए. से नियमित अंतराल पर शासन, प्रशासन, स्थानीय निकाय, विकास प्राधिकरण व अन्य एजेन्सियों का विचार विनिमय हो और उनके सुझावों व फीडबैक की प्रासंगिकता और व्यवहारिकता का परीक्षण व कार्यान्वयन हो। नीति-निर्धारण और योजनायें बनाते समय स्टेकहोल्डर्स को प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाय जो सुधार की दिशा में मील का पत्थर सिद्ध होंगे। शहरवासियों को अपनी समस्याओं और उनके समाधान के लिए संवेदनशील बनाना होगा। प्रत्येक कॉलोनी, ग्रुप हाउसिंग व बस्ती के अपने नागरिक संगठन या रैजीडेंट वेलफेयर एसोसिएशन (आर.डब्ल्यू.ए.) बनानी होंगी, जिनके माध्यम से वांछित सुधारों का संदेश प्रत्येक घर में पहुंचाया जा सकेगा व अंगीकृत हो सके। इन संगठनों की शीर्ष संस्था इनमें पारस्परिक समन्वय भी स्थापित कर सकेगी। उत्तर प्रदेश में बनाये गये नये अपार्टमेन्ट अधिनियम, 2010 में आर.डब्ल्यू.ए. की अनिवार्यता है। क्यों न सभी ग्रुप हाउसिंग, कॉलोनियों व रिहायशों के लिए भी ऐसी अनिवार्यता बनाई जाय और उन्हें प्रोत्साहित किया जाय ताकि स्वानुशासन की पहल हो सके।

विकास प्राधिकरणों द्वारा महायोजनाएँ व परिक्षेत्रीय विकास योजनाएँ बनाई जाती हैं नये मार्गों को भी प्रस्तावित किया जाता है किन्तु ये मार्ग प्रायः विकसित नहीं हो पाते हैं और उनकी जमीनों पर कब्जे भी हो जाते हैं, जबकि वस्तुतः ये मार्ग शहरों के नियोजित विकास का आधार होते हैं। संसाधनों की कमी, मार्गों की भूमि की अनुपलब्धता, भूमि अर्जन की जटिलताएँ और प्राधिकरण की प्राथमिकता का अभाव आदि अनेक ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप ये महायोजना व परिक्षेत्रीय मार्ग विकसित ही नहीं हो पाते हैं। निजी क्षेत्र की सहभागिता से इन मार्गों को भी विकसित किया जाना भी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। शहरों में पार्किंग की कमी बढ़ती जा रही है जिसको दूर करने के लिए भी “प्राइवेट पब्लिक पार्टनरशिप” के आधार पर ‘मल्टी-लेवल पार्किंग’ विकसित होनी चाहिए लेकिन ऐसी पार्टनरशिप व्यवहारिक हो ताकि निजी संस्थाएँ आगे आ सकें। पार्कों व खुले

स्थानों के विकास के लिए भी निजी संस्थाओं को प्रोत्साहित करना होगा, जिसके बदले उन्हें विज्ञापन का अधिकार अथवा किसी अन्य शुल्क में कोई छूट प्रदान की जा सकती है।

जलापूर्ति का कार्य व सीवर लाइनों का रखरखाव भी क्यों न निजी संस्थाओं को दिया जाय जो शासन द्वारा पूर्व निर्धारित नियमों के अंतर्गत कार्य कर सके ताकि अधिक से अधिक पूंजी जलापूर्ति व सीवरेज सिस्टम को विकसित करने में भी निजी क्षेत्र लगाये। विद्युत वितरण के क्षेत्र में निजी संस्थाओं को फ्रेन्चाइजी बनाया जा सकता है, बशर्ते उनकी कार्यप्रणाली की पारदर्शिता, जवाबदेही, ईमानदारी व समयबद्धता की प्रभावी व्यवस्था भी बनाई जाय। शहरों की सफाई व्यवस्था भी बहुत खराब है जिसके लिए भी नगर निगम के कर्मचारियों पर निर्भरता के स्थान पर निजी सफाई एजेन्सियों की नियुक्ति कर उस क्षेत्र से एकत्रित होने वाले टैक्स के निश्चित प्रतिशत से उनके व्यय की प्रतिपूर्ति की जाय। शहरों में बढ़ रहे अनधिकृत निर्माणों पर अंकुश लगाने के लिए प्राईवेट आर्कीटेक्ट व इंजीनियरिंग एजेन्सियों के माध्यम से जीपीएस (ग्लोबल पोजीशन स्टेशन /सैटेलाइट इमेजरी) द्वारा निरंतर सतर्क दृष्टि रखी जाय और प्रत्येक तीन या छः माह पर पुरानी स्थिति से तुलना कर नये हुए अनाधिकृत निर्माणों को चिन्हित किया जाय और उनके ध्वस्तीकरण की त्वरित व समयबद्ध कार्रवाई की जाय।

शहरों में हरियाली को बढ़ाने के लिए भी सरकारी व अर्द्धसरकारी भूमियों पर निजी संस्थाओं को वृक्षारोपण की अनुमति दिये जाने के विकल्प भी खोजे जाने चाहिए और ऐसे लगाये गये वृक्षों को उन्हें निश्चित समयावधि के बाद काटने की भी अनुमति प्रदान की जा सकती है। शहरों में निजी भूमि पर शहरवासी वर्तमान में वृक्षारोपण से बच रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वन विभाग उन्हें सुगमता से वृक्षों को काटने की अनुमति नहीं देगा। पब्लिक ट्रान्सपोर्ट को भी विकसित करने के लिए सुविचारित रणनीति के अंतर्गत निजी क्षेत्र को भरपूर रूप से शहरों में लाना होगा, चाहे वे मिनी बस हो, ट्राम्स हो, मेट्रो या मोनोरेल या कोई अन्य रूप। यह भी दर्पण की भांति स्पष्ट है कि अब शहरवासियों को यह मानसिकता बदलनी होगी कि नागरिक सुविधाएँ उन्हें मुफ्त में मिलेंगी। शहरवासियों को शहरों की सूरत सुधारने में भी सक्रिय इकाई बनना होगा।

दि0 6.7.2011 को डी.एल.ए. में प्रकाशित

सूचनाधिकार का छठा पड़ाव

सूचना अधिकार अधिनियम, 2005 की छः वर्ष की यात्रा भारतीय लोकतंत्र का मील का पत्थर है। 12 अक्टूबर को इस कानून को लागू हुए पूरे दः वर्ष हो गये। यद्यपि इसकी सफलताएँ मिश्रित रहीं। सामान्य नागरिक भी विधायक और सांसद की भांति सरकार और सरकारी संस्थाओं से सूचनाएँ मांग सकते हैं कि उनकी क्या योजनाएँ हैं, वे कहाँ-कहाँ व कैसे-कैसे धन का उपयोग कर रहे हैं और कौन-सी नई योजनाएँ विचाराधीन हैं आदि।

उच्चतम न्यायालय सहित अनेक न्यायालयों ने सूचनाधिकार अधिनियम के प्राविधानों की व्याख्या की है। हाल में उच्चतम न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक निर्णय में सी.बी.एस.ई. बोर्ड के परीक्षार्थियों को उत्तर-पुस्तिकाओं की प्रतिलिपि लेने के अधिकार को भी सूचनाधिकार में समाहित माना है। परीक्षार्थियों के लिए कितना महत्वपूर्ण है, सहज अनुमान लगाया जा सकता है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने प्रदेश के मुख्यमंत्री के विवेकाधीन कोष के उपयोग की सूचनाओं को भी उपलब्ध कराये जाने का आदेश दिया ताकि पारदर्शिता आ सके। मुम्बई उच्च न्यायालय ने एक प्रकरण में विधायक की कथित बीमारी के इलाज के सम्बन्ध में भी सूचनाओं को सार्वजनिक करने का आदेश दिया क्योंकि वह सजा से बचने के लिए बीमारी का बहाना बना रहा था। दिल्ली उच्च न्यायालय ने सुप्रीम कोर्ट को भी “लोक प्राधिकारी” की परिभाषा में माना और उसे भी सूचनाएँ दिये जाने के लिए निदेशित किया। इन समस्त न्यायिक व्याख्याओं ने सूचनाधिकार की परिधि को विस्तारित किया है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि सूचनाधिकार के अंतर्गत विभाग से किसी विषय पर परामर्श नहीं मांगी जा सकती है और न ही किसी सूचना को संकलित कर दिये जाने के लिए कहा जा सकता है। विश्व के अनेक अन्य देशों में बने सूचनाधिकार कानूनों की तुलना में हमारा अधिनियम बेहतर है तथापि आवश्यकता इस अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन की है, जिसमें जनसूचना अधिकारी, अपीलीय प्राधिकारी व सूचना आयोग अपने कर्तव्यों का सही निर्वाहन कर सकें।

प्रत्येक वर्ष क्रमशः सूचना आवेदन-पत्रों की संख्या बढ़ रही है और उसी के साथ-साथ सूचना आयोगों में भी शिकायतों की संख्या अप्रत्याशित रूप से बढ़ी है अर्थात् जनसूचना अधिकारी जनअपेक्षाओं पर खरे नहीं उतर रहे हैं। प्रायः शिकायतें आ रही हैं कि सूचनाएँ समय पर नहीं दी जाती हैं, अधूरी दी जाती हैं या सूचना आवेदन-पत्र पर कोई कार्रवाई ही नहीं होती है, अनेक प्रकरणों में बिना किसी समुचित आधार के सूचना देने से मना कर दिया जाता है। आगरा के एक आवेदक ने जब पत्रावली नोएडा अथॉरिटी से मांगी, तो जनसूचना अधिकारी ने नोएडा आकर पत्रावली के निरीक्षण करने की बात को कहा, जो कि अधिनियम के विरुद्ध थी। इसी प्रकार जब आगरा के अन्य प्रकरण में जब नजूल विभाग के प्रभारी से पूर्ण पत्रावली की प्रति चाही गई, तो उनका जवाब भी कुछ ऐसा ही था। आखिर जनसूचना अधिकारी आवेदकों को अपने पास क्यों बुलाना चाहते हैं?

उच्च न्यायालय, इलाहाबाद व 30प्र0 की विधान सभा व विधान परिषद् के सचिवालयों ने तो सूचना प्रार्थना-पत्र का शुल्क पांच सौ रुपये निर्धारित कर दिया है, जबकि सभी राज्य सरकारों,

केन्द्र सरकार व सभी संस्थाओं ने यह शुल्क दस रुपये ही निर्धारित किया हुआ है। फोटोकॉपी की कीमत भी उनके द्वारा दो रुपये के स्थान पर पन्द्रह रुपये निर्धारित की गई है। पचास गुना आवेदन-शुल्क और फोटोकॉपियों के अनुचित मूल्य निर्धारित करने के पीछे क्या मन्तव्य है? क्या वे इसके संकेतक नहीं हैं कि सूचना देने की प्रक्रिया में आर्थिक अवरोध उत्पन्न हो! निर्धारित शुल्क युक्तिसंगत ही होने चाहिए। कई सूचना आयोग शिकायतों और द्वितीय अपीलों को त्वरित गति से निस्तारित नहीं कर रहे हैं। वहाँ पर वर्षों तक शिकायतें लम्बित रहती हैं।

सूचनाएँ यदि समय पर नहीं मिलती हैं तो सूचनाओं का महत्व ही समाप्त हो जाता है। इसी कारण से अधिनियम में सूचना दिये जाने की अवधि तीस दिन है। सूचना आयोगों को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए सुयोग्य, कर्तव्यनिष्ठ और ईमानदार सूचना आयुक्तों की नियुक्ति आवश्यक है जो अपने कार्य को सफलतापूर्वक कर सकें। सूचना आयुक्तों की नियुक्ति 'पॉलिटिकल कन्सिडरेशन्स' पर न हो। सूचना आयोगों के कार्यालय भी प्रदेश की राजधानी में हैं जहाँ आवेदकों के लिए जाना-आना कठिन व खर्चीला विषय है। क्यों न मण्डल कार्यालय पर सूचना आयुक्त अपना कैम्प लगाकर शिकायतों का निस्तारण करें? सूचना आयोगों को भी अपनी कार्यप्रणाली को और अधिक प्रभावी बनाना होगा तभी अधिनियम की भावना के अनुरूप जनसूचनाधिकारी कार्य करने के लिए बाध्य होंगे।

लोक प्राधिकारियों (पब्लिक अथॉरिटी) को भी अधिनियम की धारा 4 के अनुसार सूचनाओं को स्वतः अपनी वैबसाइट पर उपलब्ध कराना चाहिए किन्तु अधिकांश वैबसाइट्स में अपूर्ण सूचनाएँ हैं। यह अधिनियम का उल्लंघन है। सभी लोक प्राधिकारियों को अपनी वैबसाइट्स समय-समय पर अपडेट भी करनी चाहिए ताकि इस सूचना प्रौद्योगिकी के युग में जनसामान्य भी सूचनाओं से सुगमता से अवगत हो सके। जिस प्रकार 'पब्लिक मनी' का दुरुपयोग हो रहा है उसके लिए सूचनाओं का 'डिस्क्लोज़र' अत्यावश्यक है ताकि 'पब्लिक प्रेशर' व 'सोशल ऑडिट' से उस पर कुछ अंकुश लग सके।

(डी.एल.ए. में दि० 15.10.2011 को प्रकाशित)

पर्यटन नीति सुधारनी होगी

अतिथि देवो भवः वाले भारतवर्ष में अतिथियों के प्रति देवत्व की भावना तो दूर, अच्छा व्यवहार भी अनेक अवसरों पर नज़र नहीं आता है। उनके प्रति अनेकों बार धोखाधड़ी भी सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को एक ही बार में ही समाप्त करने वाली हमारी दुष्प्रवृत्ति को दिखाता है। पर्यटकों के प्रति आखिर कुछ लोगों में सद्भावना का अभाव क्यों है? यही नहीं, पर्यटन को प्रोत्साहित करने की शासकीय व निजी क्षेत्र की नीतियाँ भी समग्र नहीं हैं। परिणामतः, हम संस्कृति, धर्म, कला और विरासत की समृद्धि और विविधता के होते हुए भी भारतीय और विदेशी पर्यटकों को पर्यटन स्थलों पर अपेक्षा के अनुरूप आकर्षित नहीं कर पाते हैं। थाईलैण्ड, मलेशिया, सिंगापुर जैसे दक्षिण-पूर्वी देशों की अर्थव्यवस्था में पर्यटन का महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी पर्यटन मित्र नीति है और पर्यटकों के प्रति व्यवहार सद्भावनापूर्ण है। क्यों न हम भी सुविचारित पर्यटन नीति बनायें, अपनी मानसिकता व व्यवहार में परिवर्तन करें और पर्यटन को भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करें।

देश-विदेश के जो पर्यटक किसी भी पर्यटन स्थल पर आते हैं, वे स्थानीय कला और संस्कृति से रूबरू होना चाहते हैं किन्तु अपनी कला और संस्कृति के “शो-केस” के लिए हमारे प्रयास नगण्य हैं। आगरा जैसी विश्वप्रसिद्ध पर्यटन नगरी में ‘इनले-वर्क’, ‘ज़रदोज़ी’, दरी व कालीन, जूता व पेठा उद्योग हैं, लेकिन हम उन्हें पर्यटकों को नहीं दिखा पाते हैं। ब्रज संस्कृति और कला की झलक भी उन्हें नहीं मिल पाती है। आगरा में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के 199 संरक्षित स्मारक हैं किन्तु न तो हम उन स्मारकों को जानते हैं और न ही पर्यटकों को उनकी वास्तुकला, इतिहास और विशेषताओं से परिचय करा पाते हैं, उनके विषय में इन्टरनेट पर भी सूचनाएँ अधूरी सी हैं।

हमें पर्यटकों को अपनी स्थानीय कलायें, संस्कृति, संगीत, वास्तुकला और महत्वपूर्ण स्मारकों से अच्छा परिचय कराना चाहिए। उनसे हमारा व्यवहार मित्रवत् हो ताकि न केवल वे हमारी आर्थिक प्रगति का आधार बन सकें, अपितु अपने देश व विदेश में अपने शहर का एक अच्छा संदेश जाये। कुछ एम्पोरियम स्वामियों और टूर-ऑपरेटरों द्वारा मोटा कमीशन देने की जो कुसंस्कृति पर्यटन उद्योग में व्याप्त है, क्यों न उसे समाप्त करने के लिए हम दृढ़ संकल्पित हों? लपकों को भी रचनात्मक कार्यों में लगाकर उनकी ऊर्जा का सदुपयोग पर्यटन उद्योग को आगे बढ़ाने में लगाया जाय।

हम कहीं भी बाहर जाते हैं और यदि अभद्रता या धोखाधड़ी के शिकार होते हैं, तो क्या हम उसे कभी भूल पाते हैं? कदाचित नहीं। यह बात पर्यटन उद्योग से सम्बद्ध छोटे से बड़े प्लेयर को और शहरवासियों को हृदयंगम करनी होगी। यह भी समझना होगा कि पर्यटन क्षेत्र में घटी एक छोटी सी घटना का भी दीर्घगामी परिणाम झेलना पड़ता है। अतः उनके प्रति सचेत रहना हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए। पर्यटकों को उनकी ही भाषा में प्रशिक्षित गाइडों के माध्यम से स्मारकों और संस्कृति के बारे में यदि समझायें तो और भी अच्छा होगा।

आगरा में पर्यटकों की संख्या में पिछले 3-4 वर्षों में आशातीत वृद्धि हुई है। वर्ष 2010-11 में ताजमहल को देखने वाले भारतीय पर्यटकों की संख्या 41,81,228 थी जबकि 2008-09 में मात्र 26,22,956 थी। इसी प्रकार वर्ष 2008-09 में विदेशी पर्यटकों की 5,09,681 की संख्या बढ़कर वर्ष 2010-11 में 6,23,944 हो गई। भारतीयों में जिस प्रकार पर्यटन के प्रति आकर्षण बढ़ा है, उसने पर्यटन उद्योग को नये आयाम दिये हैं और पर्यटन उद्योग को उसके लिए स्वयं को और अधिक तैयार व समर्थवान बनाना होगा। हैल्पलाइनों के माध्यम से भी पर्यटकों को सहायता करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

पर्यटन स्थलों, रेलवे-स्टेशनों, रेलवे-लाइनों और सड़क की गंदगी अत्यन्त शोचनीय दृश्य प्रस्तुत करती है। सड़कों पर बढ़ते हुए ट्रैफिक जाम भी पर्यटन के लिए चुनौती हैं क्योंकि पर्यटकों के पास सीमित समय है। पर्यटक किस प्रकार अपने समय का बेहतरीन उपयोग कर सकें, यह पर्यटन नीति का अभिन्न भाग होना चाहिए। सिटी टूअर्स के माध्यम से शहर के दर्शनीय स्थलों को दिखाये जाने की व्यवस्था विश्व भर में है परन्तु आगरा जैसे अनेक पर्यटन शहरों में उसकी कोई सार्थक व्यवस्था नहीं है। इसे हमें ठीक करना होगा। पर्यटन के क्षेत्र में विदेशों में किये जा रहे प्रयोगों को हम भी अपना सकते हैं।

भारत की तुलना में अन्य देशों में पर्यटन अधिक तेजी से बढ़ा है, जिसके कारणों की विवेचना हमें करनी होगी। पर्यटन उद्यमी और प्रशासन के मध्य निरन्तर संवाद रहना चाहिए ताकि छोटी से छोटी समस्या का शीघ्रतिशीघ्र समाधान ढूँढा जा सके। पर्यटन उद्योग संवेदनशील है, स्मारकों पर तैनात सरकारी कर्मचारियों, फोटोग्राफरों, गाइडों, टैक्सी ड्राइवरों, दुकानदारों व शहरवासियों को पर्यटकों के साथ अच्छे व सुसंस्कृत व्यवहार का महत्व समझाना होगा। यह पर्यटन उद्योग को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगा। इसमें उनका लाभ भी निहित होगा। पर्यटक पुलिस नाम के लिए नहीं होनी चाहिए अपितु पर्यटकों की के लिए मजबूत सुरक्षा कवच होना चाहिए जो पर्यटकों के साथ धोखाधड़ी और अभद्रता के मामलों पर प्रभावी रोक लगा सके। पुलिस और अवांछनीय तत्वों का गठबंधन भी टूटना चाहिए।

(डी.एल.ए. में दि० 31.10.2011 को प्रकाशित)

कैसे हो कानून का ज्ञान

केन्द्र और राज्य सरकारों के द्वारा बनाये गये सैकड़ों कानून प्रभावी हैं, जिन्हें पढ़ना और जानना तो दूर रहा, उनके नाम भी हमने सुने नहीं होंगे, लेकिन न्यायालय यह मानते हैं कि “प्रत्येक नागरिक कानून के प्राविधानों को जानता है।” न्यायालयों का यह अभिमत होता है कि “कानून की अज्ञानता बचाव का कोई आधार नहीं है”। दूसरे शब्दों में कोई भी नागरिक अपने कर्तव्यों और दायित्वों के निर्वहन से इस आधार पर नहीं बच सकता है कि वह कानून नहीं जानता है और इसलिए उसकी त्रुटि क्षमा योग्य है लेकिन विचारणीय यह है कि भारतीय परिवेश में, जहाँ अशिक्षा वृहद् स्तर पर है, ऐसी विधिक अवधारणा कि “प्रत्येक नागरिक कानून जानता है”, कहाँ तक प्रासंगिक है?

जब भी कानून बनाया जाता है, तो उसके बनाने की प्रक्रिया में जन-सहभागिता लगभग शून्य होती है। प्रारूप का अन्तिम रूप देने से पहले जनता के सुझाव आमन्त्रित नहीं किये जाते हैं। विधेयक के प्रारूप को न तो बार एसोसिएशनों, विशेषज्ञों व नागरिक संगठनों को भेजा जाता है और न ही उनका फीडबैक मांगा जाता है। लोकपाल विधेयक के प्रारूप पर ‘सिविल सोसाइटी’ के सुझावों ने बड़ा हंगामा कर दिया लेकिन कहाँ किसी भी विधेयक के प्रारूप पर ऐसी देशव्यापी बहस होती है। देखा जाए तो मंत्रालय और विभागों के बाबू और बड़े बाबू ही विधेयक के प्रारूप को बनाते हैं, जो नाम के लिए कैबिनेट के द्वारा स्वीकृत होते हैं। इंग्लैण्ड में अनेक वर्षों तक विधेयक संसदीय समितियों के समक्ष विचारार्थ रहते हैं जो विशेषज्ञों और जनता के सुझावों को आमन्त्रित कर उन पर अपनी संस्तुतियाँ देती हैं। सभी जानते हैं कि सरकार का विधेयक होता है इसलिए वह सदन में पारित होना ही है, उस पर बहस तो मात्र औपचारिकता ही होती है। विरोधी दलों का कार्य उनका विरोध करना होता है और सत्तारूढ़ दल का कार्य उन्हें समर्थन देना, इस पूरी प्रक्रिया में अनेक अच्छे सुझाव भी अनदेखे रह जाते हैं। ‘वॉक-आउट’ और ‘बायकॉट’ के मध्य भी बिना बहस विधेयक पारित हो जाते हैं। रातों-रात अध्यादेश व नियमावलियाँ आनन-फानन में बन जाती हैं और अधिसूचनाएँ जारी हो जाती हैं। विचार करें, कि संसद के सदनों और विधान मण्डलों में कितने सांसद और विधायक विधेयकों के प्रस्तावित प्राविधानों में रुचि लेते हैं और बहस के लिए तैयार होकर आते हैं? जब कानून बनाने की हमारी ऐसी निराशाजनक प्रक्रिया है तो यह आशा करना कि नागरिक कानूनों से अवगत होंगे, पूर्णतः निराधार है।

अलोकतान्त्रिक ढंग से बने कानूनों का प्रचार-प्रसार भी कितना होता है? वे सरकारी गजट में प्रकाशित होते हैं, जिन्हें कोई नागरिक पढ़ता नहीं है और वे मात्र सरकारी पुस्तकालयों का हिस्सा ही बने रह जाते हैं। निजी प्रकाशकों की मंहगी किताबों को आखिर नागरिक कैसे खरीदें? कानून की कठिन व उलझी भाषा ऐसे कानूनों को समझने में नागरिकों के लिए एक बड़ी रुकावट बन जाती है। गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाली 25 प्रतिशत भारतीय जनसंख्या से ऐसे कानूनों की जानकारी की अपेक्षा रखना कितना हास्यापद है और जो नागरिक समृद्ध भी हैं, वे भी अधिकांशतः कानूनों से अनभिज्ञ हैं। उच्चतम व उच्च न्यायालयों के द्वारा भी समय-समय पर अनेक विधि-व्यवस्थाएँ दी जाती हैं जो नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों को परिभाषित करती हैं और उन पर बाध्यकारी भी होती हैं, लेकिन सोचें, न्यायालयों के निर्णयों से कितने नागरिक अवगत होते हैं? अंग्रेजी भाषा में दिये गये निर्णयों को भी प्रत्येक नागरिक के लिए समझना सम्भव नहीं है। नागरिकों की ऐसी

विधिक असाक्षरता के लिए सरकारें भी कम दोषी नहीं हैं। वे नये कानूनों, अध्यादेशों, नियमावलियों व अधिसूचनाओं को विस्तृत रूप से प्रचारित व प्रसारित नहीं करती हैं और न ही अपने विभागों की वेबसाइटों पर अपलोड करती हैं यद्यपि सूचना अधिकार अधिनियम की धारा 4 के अंतर्गत ऐसा किया जाना बाध्यकारी है। यह परिदृश्य नागरिकों को असहाय स्थिति में लाकर खड़ा कर देता है, जो अनेक अवसरों पर ठगे भी जाते हैं। सरकारी विभागों द्वारा भी नागरिकों की अज्ञानता को भुनाने में कोई संकोच नहीं किया जाता है। विधिक अज्ञानता मुकदमों की संख्या में भी अप्रत्याशित वृद्धि का कारण बन जाती है।

यदि केन्द्र व राज्य सरकारें यह चाहती हैं कि उनके द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन हो, तो यह अत्यावश्यक होगा कि वे बनाये गये कानूनों को अच्छी तरह से प्रचारित-प्रसारित करें, नागरिकों को उनके अधिकारों और दायित्वों के सम्बन्ध में भलीभांति समझायें, बनाये गये कानूनों को सरल हिन्दी व प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध करायें ताकि सुगमता से नागरिक समझ सकें, सभी विभाग अपनी वेबसाइटों पर हिन्दी, अंग्रेजी व प्रादेशिक भाषाओं में सभी कानूनों, नियमावलियों और अधिसूचनाओं को अपलोड करें, सी.डी. में भी सभी कानून व सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के महत्वपूर्ण निर्णय सरकार द्वारा न्यूनतम मूल्यों पर उपलब्ध कराये जायें। लेखक द्वारा इस सम्बन्ध में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश से दो बार मिलकर अनुरोध किया कि इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णयों को समय-समय पर सी.डी. के रूप में उपलब्ध कराया जाय किन्तु निराशा ही हाथ लगी। सरकारी विभागों और न्यायालयों को भी इस सम्बन्ध में अपने नजरिये को बदलना चाहिए। गोष्ठियों, सेमिनारों व नुक्कड़ सभाओं के माध्यम से भी नागरिकों तक कानूनों को पहुँचाया जाना चाहिए। मीडिया को भी न्यायालयों के निर्णयों से जनसामान्य को अवगत कराने हेतु सार्थक पहल करनी चाहिए। कुल मिलाकर भारतीय लोकतंत्र को सशक्त और सफल बनाने के लिए हमें विधिक साक्षरता के अभियान को व्यापक रूप से कुशलतापूर्वक चलाना होगा, जो न्याय पर आधारित समाज की संरचना में भी निर्णायक भूमिका अदा कर सकेगा।

(डी.एल.ए. में दि० 19.11.2011 को प्रकाशित)

आत्मावलोकन का समय

नवम्बर 24, 1949 को संविधान सभा द्वारा भारतीय संविधान को स्वीकार किया गया, जो राष्ट्र का सर्वोच्च कानून बना। भारतीय संविधान की इस 62 वर्ष की यात्रा में उसमें लगभग 100 बार संशोधन हो चुके हैं। 24 नवम्बर को प्रत्येक वर्ष मनाया जाने वाला यह 'विधि दिवस' अनेक अनुत्तरित यज्ञ प्रश्नों को राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत करता है—क्या भारतीय संविधान राष्ट्र की समस्याओं के समाधान का सशक्त उपकरण बन सका? क्या लोकतंत्र के तीनों स्तम्भ—विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका स्वतंत्र व निष्पक्ष रूप से जनहित में अपने दायित्वों का निर्वहन कर सके हैं? क्या कानून का राज स्थापित हो सका है, जहाँ कमजोर से कमजोर और प्रभावशाली से प्रभावशाली व्यक्ति विधि के समक्ष समान हैं? क्या संवैधानिक संस्थाएँ गरिमापूर्ण ढंग से कर्तव्य निर्वाहन कर सकीं? क्या नागरिकों के मूलभूत अधिकार वास्तविकता बन सके?

सर्वविदित है कि विधायिका अपनी भूमिका प्रभावी रूप से नहीं निभा सकी है। चुनाव प्रणाली की खामियों के चलते अपराधिक पृष्ठभूमि के व कथनी-करनी के अन्तर वाले अनेक व्यक्ति सांसद और विधायक बने। विधायिका सार्थक बहस के स्थान पर अनर्गल बहस, शोर-शराबा और निम्न कोटि की राजनीति के अड्डे स्थान में प्रायः परिवर्तित हो गई। राजनीतिक दलों ने निजी स्वार्थ से उठकर देश और समाज के हित में महत्वपूर्ण मुद्दों को वरीयता नहीं दी। 'कैश फॉर वोट' और 'कैश फॉर क्वैश्चन' ने हमारे अनेक निर्वाचित प्रतिनिधियों की दूषित मानसिकता को प्रतिबिम्बित किया है। सामाजिक अपेक्षाओं में अधिकांश सांसद और विधेयक खरे नहीं उतरे।

ऐसी पृष्ठभूमि में क्या संसदीय प्रणाली उपयुक्त है या हमें अमेरिका जैसे अध्यक्षीय लोकतंत्र (प्रेसीडेंशियल फॉर्म ऑफ डेमोक्रेसी) की आवश्यकता है? दलबदल कानून भी प्रभावी नहीं हो सका एवं स्पष्ट बहुमत की सरकारें न आने के कारण छोटे दलों ने अस्थिरता उत्पन्न की। दलीय व्यवस्था तो है लेकिन किस दल की क्या आर्थिक, विदेश या औद्योगिक नीति है, अता-पता ही नहीं। दल कुछ लोगों का समूह हैं, जिन पर वंशवाद और जातिवाद हावी है, जो हमें पीछे धकेल रही है। कभी लोकसभा में बैठकर सदन की कार्यवाही देखने का मौका मिले, तो ऐसा प्रतीत होगा कि इन नेताओं से कहीं अधिक अनुशासित तो छोटी कक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थी होते हैं।

लोकतंत्र के अगले स्तम्भ कार्यपालिका के अनेक सदस्यों की कानून के कार्यान्वयन में प्रतिबद्धता कम है और नेताओं से दुरभिसंधि कर कलेक्शन एजेण्ट बनने की आतुरता अधिक दिखाई देती है। जहाँ कहीं भी स्वविवेक के आधार पर निर्णय देने होते हैं, वे उसका उपयोग जनहित में कम और स्वहित में अधिक करते हैं। लोकसेवक के रूप में प्रशासनिक अधिकारी मंत्रियों के प्रति जवाबदेह हैं किन्तु संवैधानिक रूप से नियमों से बाध्य हैं न कि उनके व्यक्तिगत, राजनैतिक या स्वार्थपूर्ण सोच से। कार्यपालिका का मनोबल विगत एक-दो दशक में काफी गिरा है यद्यपि अभी भी उसके अनेक सदस्य कर्तव्यनिष्ठ हैं।

न्यायपालिका भी विगत एक दशक से कुछ ज्यादा ही आलोचना के घेरे में है। 14वीं लोकसभा के अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी द्वारा न्यायपालिका की खुलकर आलोचना की गई कि वह जनअपेक्षाओं के अनुरूप कार्य नहीं कर रही है। न्यायालयों में 2.68 करोड़ से भी अधिक मामले लम्बित हैं जिनमें 1.9 करोड़ अपराधिक मामले और 78 लाख दीवानी के मामले हैं। उच्च न्यायालयों में 41 लाख मुकदमों में जून-2010 तक लम्बित थे। जिला न्यायालयों में 17 हजार पदों के विरुद्ध 2980 पद रिक्त हैं। किसी वादकारी के जीवनकाल में यदि कोई मुकदमा निर्णीत हो जाए, तो वह उसके लिए बड़ी उपलब्धि है। क्या न्यायिक व्यवस्था त्वरित न्याय देने में असफल नहीं रही है?

सुप्रीम कोर्ट के अनेक निर्णय जनहित के मामलों में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं लेकिन वहाँ न्याय कितना मंहगा है, छिपा नहीं है। वरिष्ठ अधिवक्ताओं की लाखों रुपये की दैनिक फीस कितने वादकारी वहन कर सकते हैं? न्यायिक व्यवस्था में मुकदमों और जजों की संख्या के बीच में कोई तारतम्य भी नहीं है। विधायिका और कार्यपालिका भी न्यायपालिका को आर्थिक स्वायत्तता नहीं देना चाहती हैं। खण्डपीठ स्थापना की नीति भी दोषपूर्ण है। इसका संवैधानिक दायित्व केन्द्र सरकार का है तथापि संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और राज्य सरकार की संस्तुति का बहाना करती है, जिससे गरीब वादकारी न्याय पाने से वंचित है।

भारतीय संविधान की कार्यप्रणाली के विचारार्थ एनडीए सरकार द्वारा राष्ट्रीय आयोग का गठन 22 फरवरी, 2000 को किया गया था। उसके अध्यक्ष न्यायमूर्ति एमएन वैकटचलैया थे और आयोग ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट 31 मार्च, 2002 को दी। संविधान की कार्यप्रणाली को लेकर अनेक महत्वपूर्ण सुझाव आयोग ने दिये किन्तु विगत 10 वर्षों में रिपोर्ट पर मोटी धूल की परतें जम चुकी हैं। भारत के संविधान निर्माताओं ने संविधान की संरचना के समय एक ऐसे समाज का सुनहरा सपना देखा था जहाँ समानता व न्याय हो और कमजोर से कमजोर नागरिक के मूलभूत अधिकार सुरक्षित हों। किन्तु वह स्वर्णिम स्वप्न कब साकार होगा? अन्ना के आंदोलन ने जनता को एक नई आवाज और शक्ति का अहसास कराया है लेकिन संजोये हुए सपने को साकार होने तक की कष्टप्रद यात्रा में न जाने कितने निरीह व सरल व्यक्ति कुचले जायेंगे।

(डी.एल.ए. में दि० 23.11.2011 को प्रकाशित)

संवेदनाओं को सींचें

हम मानव हैं, मानवीय संवेदनाओं से युक्त होना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्य कि मानवाधिकार दिवस (10 दिसम्बर) को मनाने की आवश्यकता है। इस दिवस पर पुलिस थानों में अभियुक्तों और जेलों में कैदियों के अधिकारों तक विचारमंथन को सीमित रखना उचित नहीं होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को किये गये अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा-पत्र के अनुच्छेद-1 में मानवाधिकार की व्याख्या करते हुए कहा गया कि “सभी मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुए हैं और वे सम्मान और अधिकार हेतु समकक्ष हैं, उनमें विवेक व अंतर्आत्मा है और भाईचारे की भावना से उनसे व्यवहार करना चाहिए।” वस्तुतः मानव के रूप में हमें जो भी मूलभूत अधिकार नैसर्गिक रूप से प्राप्त हुये हैं, वे सभी मानवाधिकार की परिधि में सम्मिलित हैं।

कन्या भ्रूण हत्या अपराध ही नहीं अपितु पाप भी है, आखिर जीवहत्या है। एक असहाय, अबोध बालिका जो अपनी माँ के गर्भ में पल-बढ़ रही हो, उसकी हत्या किया जाना आखिर क्या है? भारत की जनगणना 2011 के अनुसार प्रति एक हजार पुरुषों के सापेक्ष में महिलाओं की संख्या मात्र 940 है और बड़े शहरों में महिलाओं का तेजी से गिरता हुआ प्रतिशत उनके प्रति हमारे भेदभाव को स्पष्ट दिखाता है। बेटियाँ और बहनें हमें अथाह प्यार और स्नेह देती हैं, हमारे परिवार को आगे बढ़ाती हैं किन्तु वे उत्पीड़ित होती हैं—कभी दहेज के नाम पर, कभी कम वेतन देकर और कभी कार्यस्थल पर उनके दैहिक शोषण से। नवजात कन्या शिशुओं को अनाथालय में छोड़ आना क्या है? यह व्यवहार हमारे अमानवीय नज़रिये को दर्शाता है।

बुजुर्गों के प्रति भी भारतीयों की सोच में जो बदलाव आया है, वह चिन्तनीय है और निन्दनीय भी, जिन्होंने हमें जन्म दिया, बोलना सिखाया और उँगली पकड़कर चलना सिखाया, अपने कठोर परिश्रम से सम्पत्ति और धन कमाकर हम को सौंपा, किन्तु आधुनिकता की दौड़ में हमारे पास इतनी फुर्सत भी नहीं होती है कि ऐसे माता-पिता व घर के अन्य बुजुर्गों के लिए समय निकाल सकें या उन्हें सम्मान दें। बदलते परिवेश में टी.वी. और पश्चिमी संस्कृति के कुप्रभाव से पुत्रवधुयें में भी सेवा भाव प्रायः समाप्त हैं। क्या यह परिदृश्य भी वृद्धों के मानवीय अधिकारों की स्पष्ट अनदेखी नहीं है?

व्यवस्था तंत्र द्वारा भी मानवाधिकारों की उपेक्षा है। वर्तमान भारतीय न्यायिक प्राणाली कितनी मंहगी, दुष्कर और समय लेने वाली है, क्या कोई साधारण व्यक्ति अपने विधिक अधिकारों का प्रयोग इस व्यवस्था के चलते कर सकता है? भवन स्वामी अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए अपने भवन को किरायेदार से सुगमता से खाली नहीं करा पाता है। कैसा भी वैवाहिक विवाद हो—तलाक, घरेलू हिंसा आदि, उसके निपटारे में 10-20 वर्ष तक की अवधि लग जाती है। क्या यह मानवाधिकार नहीं है कि यदि वैवाहिक सम्बन्ध नहीं चल पा रहे हैं तो वे यथाशीघ्र विच्छेदित हो जायें ताकि पुरुष व स्त्री अपना-अपना नया परिवार बसा सकें?

पदोन्नति के विवाद तो सेवानिवृत्ति तक भी आसानी से नहीं निपटते। न्यायिक सुधारों पर गोष्ठियाँ होती हैं, पर धरातल पर कोई उल्लेखनीय सुधार दिखाई नहीं देता है। कहीं-कहीं न्यायपालिका में व्याप्त भ्रष्टाचार ने भी स्थिति को दुरूह बना दिया है। वादों के अन्तिम निस्तारण तक दशकों लग जाते हैं। तारीख के बाद तारीख से दोनों पक्ष कानून की चक्की में पिस जाते हैं। चौराहों पर भीख मांगते बच्चे-बूढ़े और महिलाएँ, शिक्षा प्राप्त करने और खेलने-कूदने की आयु में परिश्रम करते बाल श्रमिक मानवाधिकारों को मुँह चिढ़ाते हुए दिखते हैं। देश में व्याप्त भ्रष्टाचार सही अर्थों में असहाय व निर्धन व्यक्ति के मानवाधिकारों का हनन है, जिस कारण वे स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास एवं अन्य जनसुविधाओं से वंचित हो जाते हैं। पैसा भ्रष्ट नेताओं, अधिकारियों और व्यापारियों की तिजोरियों में जाता है। भ्रष्ट राजनीति ने भी कमजोर वर्ग को पेयजल के अधिकार से ही वंचित कर दिया, जो फ्लोराइड, आर्सेनिक व अन्य रसायनयुक्त दूषित जल पीने को विवश हैं। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन व मनरेगा में व्याप्त भ्रष्टाचार ने भी ग्रामीणों को उनके स्वास्थ्य व रोजगार के अधिकारों से वंचित किया है। “ट्रान्सपेरैन्सी इण्टरनेशनल” संस्था द्वारा वर्ष 2009 में प्रकाशित लेख ‘भ्रष्टाचार और मानवाधिकार—उनका सम्बन्ध’ में भी यही निष्कर्ष निकाला था कि ‘भ्रष्टाचार की समस्या से मानवाधिकार प्रभावित होते हैं’।

जाति-धर्म-क्षेत्र-भाषा के नाम पर राजनीति की जा रही है। कुछ अपवादों को छोड़कर जहाँ राजनीतिज्ञ और प्रशासनिक अधिकारी न्याय और संवेदनाओं को अनदेखा कर स्वार्थ से प्रभावित हो निर्णय लेते हैं। नियोक्ता अपने कर्मचारियों के अधिकारों को अनदेखा करता है। धर्म के नाम पर और उसकी आड़ में लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ किया जाता है—ये कैसी मानसिकता है? इसे अमानवीयता के अतिरिक्त क्या नाम दिया जा सकता है?

थानों में पुलिस का अभद्र व्यवहार, कारागारों में कैदियों को मिलने वाला हिंसक वातावरण, कैदियों में परस्पर होने वाली मारपीट, बैरिकों की क्षमता से कहीं अधिक कैदी, उन्हें दिया जाने वाला खराब खाना, उन्हें सुधरने के स्थान पर बड़ा अपराधी बना देना अमानवीय कृत्य ही तो है। सत्य यह है कि पुलिस थानों से कहीं अधिक अमानवीय व्यवहार हम समाज से कर रहे हैं, जिसका समाधान कानून बनाने, संगोष्ठियाँ करने या चर्चाओं से नहीं निकलने वाला है। वह तो हममें निहित मानवीय संवेदनाओं को सिंचित व संरक्षित करने से ही होगा।

डी.एल.ए. में दि0 10.12.2011 को प्रकाशित

जनहित कानून का लाभ लें

उत्तर प्रदेश में जनहित गारण्टी कानून 15 जनवरी, 2011 को लागू हुआ जो नागरिकों को जनसुविधाओं को समयबद्ध रूप से दिये जाने की विधायी व्यवस्था है जिसके पहले पड़ाव पर उस पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

जहाँ संसद द्वारा बनाये गये सूचना अधिकार अधिनियम, 2005 का उद्देश्य सूचनाओं को आवेदक को उपलब्ध कराने का है, वहीं प्रदेश सरकार का जनहित गारण्टी कानून, 2011 जनोपयोगी सेवाओं को निश्चित समय-सीमा में देने हेतु है। जाति, आय, निवास या विकलांगता प्रमाण-पत्र, जलापूर्ति कनेक्शन जैसी उपयोगी सुविधाएँ बिना दौड़-भाग और रिश्वत के मिलें, यह उद्देश्य है इस कानून का। नागरिक सशक्तिकरण की दिशा में यह कानून एक मील का पत्थर है किन्तु विगत एक वर्ष में इसका प्रयोग कितने व्यक्तियों द्वारा किया गया? निश्चित रूप से प्रभावी प्रचार-प्रसार के अभाव में इस कानून का लाभ कदाचित जनसामान्य तक नहीं पहुंच सका है।

अधिनियम की व्यवस्थाओं पर यदि दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट है कि इसकी धारा 3 द्वारा राज्य सरकार को अधिकृत किया गया है कि वह अधिसूचनाओं के माध्यम से इस अधिनियम के अंतर्गत आने वाली विभिन्न सेवाओं को और उनको दिये जाने की निर्धारित अवधि को अधिसूचित करे, सेवा देने के लिए नामित अधिकारी कौन हो और यदि वह सेवा नहीं देता है, तो प्रथम व द्वितीय अपील किस अधिकारी के समक्ष की जावे, इसको भी राज्य सरकार को अधिसूचित करना होता है। धारा 3 के अंतर्गत राज्य सरकार द्वारा चार प्रकार की सेवाओं के संबंध में अधिसूचना जारी की गई है जो कि (1) राजस्व (2) नगर विकास (3) स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व (4) खाद्य एवं सिविल आपूर्ति से संबंधित हैं। इसके तहत जाति, आय, निवास प्रमाण-पत्र के प्रार्थना पत्र दिये जाने की तिथि से उसे प्रदान करने के लिए 20 कार्यदिवस की अधिकतम अवधि निर्धारित की है।

नगर निगम के क्षेत्र में निर्विरोध सम्पत्ति नामान्तरण के लिए 45 कार्यदिवस, जलापूर्ति कनेक्शन हेतु 30 कार्यदिवस, नगरपालिका /नगर पंचायत क्षेत्र में जन्म/मृत्यु प्रमाण-पत्र निर्गत करने के लिए 45 कार्यदिवस, विकलांगता प्रमाण-पत्र के लिए 60 कार्यदिवस, नये राशन-कार्ड जारी करने के लिए 30 कार्यदिवस की समय सीमायें निर्धारित की गई हैं। यदि निर्धारित समयावधि में उक्त सेवाएँ नहीं दी जाती हैं या देने से मना कर दिया जाता है, तो आवेदक 30 दिन में अपील कर सकता है, जिसको कि प्रथम अपील अधिकारी द्वारा निर्धारित समय 30 से 90 दिन के भीतर निर्णीत करना होता है।

यदि प्रथम अपील अधिकारी के निर्णय से भी आवेदक संतुष्ट नहीं है, तो वह द्वितीय अपीलीय अधिकारी के यहाँ 60 दिन के अंदर अपील प्रस्तुत कर सकता है (धारा 6)। यदि द्वितीय अपीलीय अधिकारी द्वारा यह पाया जाता यह पाता है कि सेवा प्रदान करने वाले नामित अधिकारी द्वारा सेवा उपलब्ध कराये जाने में विलम्ब किया गया है तो ऐसे विलम्ब के लिए 250/- रुपये प्रतिदिन से 5000/- रुपये का अर्थदण्ड आरोपित किया जा सकता है (धारा 7, उपधारा 2)।

इसके अलावा द्वितीय अपीलीय अधिकारी द्वारा सेवा मुहैया कराने वाले नामित अधिकारी और प्रथम अपील अधिकारी के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए भी संस्तुति की जा सकती है (धारा 7, उपधारा 4)। यदि प्रथम अपील अधिकारी समय-सीमा के अंतर्गत अपील का निस्तारण करने में विफल रहता है, तो उस पर अर्थदण्ड भी लगाया जा सकता है। सेवा न दिये जाने पर आवेदक को क्षतिपूर्ति की राशि भी दिलाये जाने का प्राविधान है (धारा 7, उपधारा 3)। इस प्रकार यह अधिनियम दंतहीन नहीं है अपितु दण्डात्मक प्राविधानों के कारण प्रभावी रूप से प्रयोग किया जा सकता है।

उक्त विधिक व्यवस्थाओं के होते हुए भी यह किसी से छिपा नहीं है कि तहसील कर्मियों द्वारा जाति, आय या निवास प्रमाण-पत्र बिना 'सुविधाशुल्क' के नहीं दिये जाते हैं, कृषि भूमि के निर्विरोध नामांतरण मामलों में भी विक्रय मूल्य की राशि के प्रतिशत की दर से रिश्वत ली जाती है, जन्म एवं मृत्यु प्रमाण-पत्र भी बिना ऊपरी खर्च के नगर निगम / नगर पंचायत से नहीं मिल पाते हैं। अधिनियम की धारा 3 के अंतर्गत दी जाने वाली अधिसूचित सेवाओं की सूची भी अत्यन्त छोटी है। अनेक महत्वपूर्ण सेवाएँ इसमें छूटी हुई हैं जैसे-सीवर या विद्युत कनेक्शन या उसका स्थायी विच्छेदन, प्राधिकरण /स्थानीय निकाय द्वारा मानचित्र स्वीकृति, पीपीपी के अंतर्गत विद्युत फ्रेन्चाइज़ी या टोल रोड संबंधी सेवाएँ आदि।

आवश्यकता इस बात की है कि सभी महत्वपूर्ण सेवाओं को इस कानून के दायरे में अधिसूचना जारी कर लाया जाय व अधिनियम के प्राविधानों को कड़ाई से लागू किया जाय। निर्धारित समय में आवेदक को सेवा प्रदान की गई है अथवा नहीं, इस तथ्य को नामित अधिकारी को स्वयं प्रथम/द्वितीय अपीलीय प्राधिकारियों को बताना चाहिए ताकि उसकी मासिक समीक्षा हो और आवेदक अपील करने की आवश्यकता से बच सके। निर्विवाद रूप से कानून बनाने मात्र से जनसाधारण का हित नहीं हो सकता है, उसके लिए कानून को समाज के कमजोर वर्गों तक पहुँचाना आवश्यक है ताकि वे उसका सम्यक् उपयोग कर सकें और जो अफसर या बाबू उसके अनुपालन में कोताही बरतें, वे दण्डित हों।

प्रदेश के विधानसभा चुनाव-2012 के उपरान्त अन्य महत्वपूर्ण सेवाओं को भी इस कानून की परिधि में लाया जाए और सेवाओं को दिये जाने की समयसीमा का अनुपालन सुनिश्चित हो। तभी सामान्य व्यक्ति जनोपयोगी सेवाओं को प्राप्त करने के लिए अपनी ऊर्जा, समय व धन गंवाने से बच सकेगा, जो अन्ना के सिटीजन चार्टर के स्वप्न को भी साकार करेगा।

डी.एल.ए. में दि० 16.1.2012 को प्रकाशित

निकाय चुनाव-2012 में आरक्षण का विवाद

उत्तर प्रदेश में 13 नगर निगम, 226 नगर पालिका परिषद् और 447 नगर पंचायत के चुनाव-2012 की प्रक्रिया गतिमान है किन्तु दुर्भाग्य है कि मेयर और पालिकाध्यक्षों के आरक्षण का विवाद सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन है जिसके द्वारा चुनाव के निर्णयों पर रोक लगा दी गई है। आखिर इस विवाद की पृष्ठभूमि क्या है?

स्थानीय निकायों का पिछला चुनाव वर्ष अक्टूबर-2006 में उ.प्र. पालिका (संशोधन) अध्यादेश, 2006 के अंतर्गत हुआ था, जो दिनांक 12 जुलाई, 2006 से लागू हुआ था। उक्त अध्यादेश का स्थान भी विधान मण्डल द्वारा पारित संशोधन अधिनियम, 2006 ने लिया था जो 12 जुलाई, 2006 के पूर्वगामी प्रभाव से लागू हुआ था। उक्त संशोधन अधिनियम 2006 के द्वारा यह स्पष्ट प्राविधान किया गया था कि यदि 'पिछले' चुनाव में पद आरक्षित था, तो 'अगले' चुनाव में पद अनारक्षित रहेगा। विवाद इस कानूनी बिन्दु को लेकर उत्पन्न हुआ है कि 12 जुलाई, 2006 के उपरान्त नगर निकायों के चुनाव हो चुके हैं, अतः वर्ष 2012 का यह चुनाव पहला है या दूसरा। यदि इस 2012 के चुनाव को 'पहला चुनाव' माना जाता है तो वर्ष 2006 में पद आरक्षित होने के बावजूद भी वर्ष 2012 के चुनाव में पुनः आरक्षित हो सकते हैं किन्तु यदि वर्ष 2012 के चुनाव को 'दूसरा चुनाव' माना जाता है, तो स्थानीय निकाय के चुनावों में पुनः आरक्षण नहीं हो सकता है।

इस विवाद को लेकर गोपालकृष्ण वाष्ण्य, जो कि महावीरगंज, जलेसर, जनपद एटा में नगरपालिका परिषद् के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव लड़ना चाहते थे, ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में रिट याचिका (सं0 22564/2012) दायर की और चुनाव आयोग के आरक्षण के आदेश 23.4.2012 व चुनाव की अधिसूचना दि0 25.4.2012 को चुनौती दी। अनेक अन्य रिट याचिकाएँ मेयर पद के आरक्षण को लेकर भी हुईं। इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खण्डपीठ की ओर से न्यायमूर्ति श्री आर.के. अग्रवाल द्वारा सविस्तार निर्णय दिया गया जिसके बिन्दु सं0 7 में यह स्पष्टतः कहा कि वर्ष 2012 का यह चुनाव पहला चुनाव नहीं है अपितु दूसरा चुनाव है और इसलिए ऐसे पदों पर जहाँ 2006 के चुनाव में आरक्षण हो चुका है, पुनः आरक्षण किया जाना गैरकानूनी है, किन्तु खण्डपीठ ने चुनाव में हस्तक्षेप करना उचित इसलिए नहीं समझा कि चुनाव की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है यद्यपि खण्डपीठ द्वारा राज्य सरकार से आरक्षण को लेकर पुनर्विचार का अनुरोध किया गया। खण्डपीठ ने निर्णय में यह भी कह दिया कि चुनाव की अपनाई प्रक्रिया से न्यायालय की अन्तर्मात्मा हिल गई है।

निर्णय के विरुद्ध यह प्रकरण सुप्रीम कोर्ट में भी गया, जहाँ निर्णय के विरुद्ध विशेष अनुमति याचिका (सं0 18362/2012) को 11 जून, 2012 को विचारार्थ स्वीकार कर लिया गया किन्तु आरक्षण की अधिसूचना दि0 23 मई को निरस्त नहीं किया और चुनावों के परिणामों पर अवश्य रोक लगा दी गई है।

अब ज्वलन्त प्रश्न यह है कि प्रदेश में स्थानीय निकाय के चुनाव हो रहे हैं, सरकारी मशीनरी लग रही है और बड़ी राशि व्यय होगी। यदि इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खण्डपीठ के मन्तव्य की तर्ज पर सुप्रीम कोर्ट ने भी आरक्षण को गैरकानूनी माना तो सारी प्रक्रिया निरर्थक सिद्ध होगी। अच्छा होता कि सुप्रीम कोर्ट इसी समय इस प्रकरण को अन्तिम रूप से निर्णीत कर देता ताकि चुनावों पर अनावश्यक खतरा न बनता। सामान्यतः चुनाव की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर न्यायालय हस्तक्षेप नहीं करते हैं किन्तु क्या ऐसी परिस्थितियों में भी जबकि इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खण्डपीठ ने निकाय चुनावों में पुनः आरक्षण को अवैध ठहराया है, यह समीचीन नहीं होता कि विवाद पर अंतिम विराम लगाने के लिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 142 के सम्यक् न्याय के अधिकार का उपयोग कर सुप्रीम कोर्ट अपना निर्णय कर देता अथवा राज्य सरकार उच्च न्यायालय के परामर्शानुसार आरक्षण के बिन्दु पर पुनर्विचार कर लेती।



भूमि अधिग्रहण के विकल्प ढूढ़ने होंगे

यू0पी0 के विकास में 165 कि.मी. लम्बा यमुना एक्सप्रेस-वे एक बड़ी उपलब्धि है, जिसने दिल्ली और आगरा के टाइम डिस्टैन्स को 4 घण्टे से घटाकर 2 घण्टे कर दिया है और पर्यटन, उद्योग, मनोरंजन और रोजगार की अपार सम्भावनाओं को खोल दिया है। क्या इस यमुना एक्सप्रेस-वे का निर्माण बिना अनिवार्य भूमि अधिग्रहण के संभव था ?

जब भी नियोजित विकास की बात सामने आती है, तो चाहे वह नोएडा हो, ग्रेटर नोएडा हो, चण्डीगढ़ या दिल्ली हो, वृहद स्तर पर भूमि अधिग्रहण के कारण ही उनका वर्तमान नियोजित रूप साकार हो सका है, किन्तु भूमि अर्जन की प्रक्रिया ने किसानों और भू-धारकों को भूमिहीन बना दिया, जिनकी लड़ाई संसद के गलियारों से लेकर सड़कों, हाईवे और रेलमार्गों तक पहुंची और व्यापक स्तर पर हिंसक घटनाएँ भी घटीं। जल, जंगल, जमीन का संरक्षण बनाम नियोजित विकास की इस लड़ाई में दोनों पक्षों के लिए विन-विन की स्थिति कैसे बने, यह बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों और विचारकों के मध्य ज्वलन्त मुद्दा है। बिना भूमि के न कोई औद्योगिक क्षेत्र या इण्टीग्रेटेड सिटी की परिकल्पना संभव है, न ही हाईवे या नहरें बन सकती हैं। स्पेशल इकनॉमिक ज़ोन के लिए भी बड़े भूमि क्षेत्रफल की आवश्यकता है।

भूमि अधिग्रहण कानून लगभग 118 वर्ष पुराना हो चुका है, जिसमें अनेकानेक संशोधन वर्ष 1967 व 1984 में हुए, किन्तु भू-धारकों के मध्य असन्तोष ज्यों का त्यों ही है। वर्षों के विचार मन्थन के बाद यू.पी.ए. प्रथम की सरकार ने एक संशोधन विधेयक 6 दिसम्बर, 2007 को लोकसभा में प्रस्तुत किया, जिस पर संसदीय समिति ने आख्या दी, किन्तु 14वीं लोकसभा की अवधि की समाप्ति के साथ विधेयक स्वतः समाप्त हो गया। पुनः यू.पी.ए. द्वितीय ने भूमि अधिग्रहण विधेयक बनाया है किन्तु उसके प्रारूप को लेकर आपसी मतभेद है। एक ओर नियोजित विकास और जनसुविधाओं के लिए भूमि की आवश्यकता है, वहीं राजनैतिक दल किसानों की नाराजगी से बचने के लिए उनकी इच्छा विरुद्ध भूमि अधिग्रहण नहीं करना चाहते हैं। अभी हाल में प्रदेश के मुख्यमंत्री अखिलेश यादव ने भी किसानों की इच्छा के विरुद्ध भूमि अधिग्रहण न किये जाने की बात को दोहराया है, ऐसी स्थिति में जनप्रयोजनों हेतु भूमि कैसे उपलब्ध होगी। इसमें हमें नये विकल्पों को तलाश करना ही होगा।

हरियाणा राज्य में अभी कुछ सप्ताह पूर्व ही 'लैण्ड पूलिंग' की अवधारणा को अपनी औद्योगिक नीति का हिस्सा बनाया है, जिसके अंतर्गत किसानों और भू-धारकों को उनकी अविकसित भूमि के स्थान पर एक-चौथाई विकसित भूमि मिलेगी, जिसे वे बेच सकते हैं, किराये पर दे सकते हैं अथवा उस पर अपना उद्योग स्थापित कर सकते हैं। ऐसी नीति का उद्देश्य है कि सरकार किसानों की जमीन लेकर उस पर मोटा लाभ न कमाये। अपितु किसानों को सहभागिता के आधार पर लाभ मिले और औद्योगिक क्षेत्र विकसित हो। ऐसी ही नीति आवासीय क्षेत्रों को विकसित करने के लिए होनी चाहिए, जहाँ भू-धारकों को उनकी अविकसित भूमि के स्थान पर विकसित प्लॉट मिले। ऐसे

विकसित प्लॉटों का क्षेत्रफल इस पर निर्भर होगा कि सड़कों, पार्कों व जनोपयोगी सेवाओं के लिए भूमि निकालने के उपरान्त कितनी भूमि अवशेष रहती है और उस पर अवस्थापना सुविधाओं के सृजन के लिए कितना व्यय होगा? प्रत्येक योजना के लिए अलग से एकाउण्टिंग की जानी चाहिए ताकि यह पारदर्शिता बनी रहे कि सरकारी मशीनरी अनुचित रूप से लाभान्वित नहीं हो रही है और योजना का समस्त लाभ किसानों को सीधे पहुंच रहा है। औद्योगिक और आवासीय क्षेत्रों के लिए ऐसी योजनाएँ बनाने से दोहरा लाभ होगा-किसानों का विरोध नहीं होगा और उन्हें अधिकतम लाभ मिल सकेगा। ऐसी आवासीय योजनाओं में कुछ व्यवसायिक भूखण्ड भी चिन्हित हों, जो भूमि के बदले दिये जाएँ, जहाँ वे अपने रोजगार स्थापित कर सकें। लैण्ड पूलिंग की ऐसी योजनाएँ लागू करने पर योजना की भूमि का क्या बाजार मूल्य है, इस कठिन समस्या से भी प्रशासन को रूबरू नहीं होना पड़ेगा।

एक्सप्रेस-वे, हाईवे, मास्टर प्लान रोड या जोनल प्लान रोड के लिए भूमि उपलब्ध कराने हेतु नये विकल्प तलाशने होंगे, जिसमें यह विकल्प भी संभव है कि भू-धारकों को उनकी भूमि के बदले ट्रान्सफरेबिल फ्लोर एरिया रेश्यो (एफ.ए.आर.) प्रदान किया जाए, जिसका उपयोग वे स्वयं कर सकें अथवा किसी अन्य को अन्तरित कर सकें ताकि भू-धारकों को सड़कों में गई भूमि के बदले एफ.ए.आर. के रूप में मिल सके। उत्तर प्रदेश में मास्टर प्लान व जोनल प्लान रोडों के बदले भवन उपविधियों में 50 प्रतिशत कम्पैन्सेटरी एफ.ए.आर. का प्राविधान है जो 100 प्रतिशत होना चाहिए और ट्रान्सफरेबल भी। भूमि के बदले रोजगार की अवधारणा को भी एक विकल्प बनाना होगा, जहाँ अर्जित भूमि के बदले अन्य लाभों के अतिरिक्त भूमिहीन हुए भू-धारक के परिवार के एक सदस्य को अनिवार्य रूप से सरकारी अथवा अर्द्धसरकारी संस्था में उसकी योग्यतानुसार नौकरी मिले। महाराष्ट्र में भी भूमि अधिग्रहण के स्थान पर स्पेशल पर्पस व्हीकल (एस.पी.वी.) बनाकर औद्योगिक क्षेत्र विकसित करने का सफल प्रयोग किया गया है। यदि हम अनिवार्य भूमि अधिग्रहण की दुरुह व जटिल प्रक्रिया व किसानों के आन्दोलनों व हिंसा से बचना चाहते हैं और देश को प्रगति के पथ पर ले जाना चाहते हैं, तो बिना भूमि संसाधन के यह संभव नहीं है, जिसके लिए हमें नये प्रभावी, सशक्त व व्यवहारिक विकल्प ढूँढ़ने और अपनाने होंगे। इस संबंध में हम जितना विलम्ब करेंगे, उतना ही देश की प्रगति अवरुद्ध होगी।

(डी.एल.ए. में दि० 11.9.2012 को प्रकाशित)

कठोर सजा से समाधान नहीं होगा

गैंगरेप से पीड़ित मेडीकल की छात्रा दामिनी ने अंततः दम तोड़ ही दिया। उच्च स्तर पर मेडीकल सुविधाएँ उपलब्ध कराने के बावजूद दामिनी की सांसे बचाई नहीं जा सकीं। छात्रा की मौत के बाद देश भर में जो आक्रोश व्याप्त हुआ और जिस प्रकार से सरकार सहित सभी दलों ने बलात्कार की सजा के प्राविधान में बदलाव की मांग की है उससे लगता है कि छात्रा का बलिदान बेकार नहीं जाएगा। उसकी शहादत निश्चित रूप से देश में वैचारिक क्रांति की एक अलग जगाई है। इस घटना के बाद नारी संगठनों द्वारा कड़े कानून बनाये जाने और बलात्कारियों को मृत्युदण्ड दिये जाने की मांग की जा रही है। बलात्कार मात्र शारीरिक उत्पीड़न ही नहीं अपितु पीड़िता को जीवनपर्यन्त मानसिक पीड़ा देने वाला कृत्य है, परन्तु ज्वलन्त प्रश्न यह है कि ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति कैसे रुके? क्या ऐसे अमानवीय कृत्यों को कठोर दण्ड का प्राविधान बनाकर रोका जा सकेगा? विधायिका, शासन, पुलिस प्रशासन और न्यायपालिका की क्या भूमिकाएँ होनी चाहिए?

कठोर कानून बनाने से बलात्कार जैसे अपराधों को हम कदाचित् नहीं रोक सकेंगे। कानून कठोर बनाया जाय अथवा नहीं, आवश्यकता इस बात की है कि जो कानून हों, अपराधी दण्डित हो। यदि मृत्युदण्ड का प्राविधान भी हो किन्तु अपराधी दण्डित न हो सके तो उसका क्या लाभ होगा? यदि किसी अपराधी को यह मालूम हो कि वह दण्ड से किसी भी स्थिति में नहीं बच पायेगा, तो उसकी अपराध की दुष्प्रवृत्ति पर काफी अंकुश लग सकेगा। पिछले आंकड़े बताते हैं कि बलात्कार के कुल 18 प्रतिशत अपराधी ही दण्डित हो सके। अतः इस दिशा में हमारे क्या सार्थक कदम होने चाहिए, यह विचारणीय मुद्दा है। पहला कदम यह होना चाहिए कि पुलिस की प्रभावी भूमिका हो। वर्तमान में सिविल पुलिस कभी वीआईपी ड्यूटी में लगती है तो कभी अपराधों की विवेचना में, जिसके कारण अपराधों की विवेचना का कार्य पिछड़ता है और पूरे मनोयोग से प्रयास नहीं हो पाते हैं, जिसके कारण अपराधों की विवेचना में खामियाँ रह जाती हैं जो न्यायालय में अपराधियों के बचाव का रास्ता बनाती हैं। भारतीय पुलिस अधिनियम, 1861 में परिवर्तन कर उसके दो विभाजन होने चाहिए, पहला, वह जो अपराधों की विवेचना और न्यायालयों में पैरवी करे और दूसरा जो वीआईपी ड्यूटी, पैट्रोलिंग और अपराध नियंत्रण हेतु हो। ऐसा करने से विवेचना और पैरवी के कार्य को पुलिस भलीभाँति अंजाम दे सकेगी। अपराधों की विवेचना के लिए आधुनिक तकनीक का भी उपयोग हो। मौखिक साक्ष्य के स्थान पर मेडीकल, फौरैन्सिक व अन्य साक्ष्यों को अधिक आधार बनाया जाय ताकि प्रलोभन या भय से गवाहों को प्रभावित न किया जा सके। न्यायालय में अपराधियों के ट्रायल के समय भी पुलिस अभियोजन अधिकारी व साक्षियों की उपस्थिति को लेकर तारीखें नहीं पड़नी चाहिए। कुल मिलाकर अपराधों की विवेचना, साक्ष्यों को एकत्रित करने और ट्रायल के समय पुलिस की भूमिका उत्कृष्ट व स्तरीय हो ताकि अपराधी दण्डित हो और समाज को न्याय मिले। प्रत्येक अपराध व्यक्ति के विरुद्ध ही नहीं अपितु समाज के विरुद्ध भी है।

न्यायपालिका में भी फास्ट ट्रैक कोर्ट हों, जहाँ न्यायाधीशों की पर्याप्त संख्या हो। यदि अपराध और मुकदमें अधिक हैं तो ये कहाँ तक औचित्यपूर्ण है कि न्यायाधीशों की संख्या कम हो और किसी अपराधिक मुकदमे के निर्णय में बीसियों वर्ष लगे। किसी भी सरकार का यह पहला

उत्तरदायित्व है कि कानून और न्याय व्यवस्था सुदृढ़ व जनहित की हो। इलाहाबाद उच्च न्यायालय में 160 न्यायमूर्तियों के सृजित पद होने के उपरांत भी लगभग 71 न्यायाधीश ही कार्यरत हैं, जिसका कारण यह भी है कि न्यायाधीशों के लिए न्याय कक्ष, चैम्बर व आवास आदि की सुविधायें प्रदेश सरकार द्वारा उपलब्ध नहीं कराई हैं। जनपद न्यायालयों व उच्च न्यायालय, दोनों ही स्तरों पर न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए ताकि त्वरित गति से समयबद्ध रूप से मुकदमों का निस्तारण सुनिश्चित हो सके। राज्य सरकार की ओर से सरकारी वकील भी योग्य, निष्पक्ष व ईमानदार होने चाहिए और यह भी उचित होगा कि पीड़ित पक्ष की ओर से भी अथवा नारी संगठनों व नागरिक संगठनों की उपस्थिति अनुमन्य हो। न्यायालयों की कार्यप्रणाली की समीक्षा भी समय-समय पर किया जाना आवश्यक है।

जहाँ तक कानून को और अधिक कठोर बनाने और मृत्युदण्ड के प्राविधान की बात है, ऐसा कदम लाभप्रद नहीं होगा। ऐसा होने से अपराधियों की प्रवृत्ति बलात्कार के उपरान्त पीड़िता की हत्या करने की बढ़ेगी, जिसके पीछे उसका उद्देश्य साक्ष्य को मिटाना होगा। यही नहीं पुलिस और न्यायालयों में भ्रष्टाचार और अधिक बढ़ेगा क्योंकि अपराधी मृत्युदण्ड के भय से अधिक से अधिक रिश्वत देने से परहेज नहीं करेगा। क्रिमिनल प्रोसीजर कोड को हम और अधिक व्यवहारिक और सामयिक बनाना होगा ताकि प्रक्रिया संबंधी कठिनाईयाँ दूर हो सकें। यह भी आवश्यक है कि इस विषय को लेकर राष्ट्रव्यापी बहस हो, जिसमें न्यायविद्, समाजशास्त्री, महिला संगठन और राजनेताओं के सुझावों पर विचार मन्थन हो। यह भी विचारणीय है कि पूर्व में भी अनेकों ऐसी ही हृदयविदायक घटनाएँ हुईं लेकिन कुछ समय में ही मीडिया व हम सभी उन्हें भूल गये, अतः यह आवश्यक है कि इस पाशविक घटना को भूलने से पहले ही हम कुछ कारगर कदम उठा सकें ताकि समाज में महिलाएँ सुरक्षा के माहौल में सांस ले सकें।

डी.एल.ए. में दि० 4.1.2013 को प्रकाशित



दृढ़ता से लागू हों औद्योगिक नीतियाँ

आगरा में गत माह हुई “ग्लोबल पार्टनरशिप समिट” में उत्तर प्रदेश में औद्योगीकरण की दशा व दिशा को लेकर गम्भीर चिन्तन-मनन हुआ। मेहमानों के स्वागत की अभूतपूर्व तैयारियाँ हुई व औद्योगीकरण को लेकर प्रदेश सरकार खासी गंभीर थी। विचार-मन्थन से यह भी उभर कर आया कि प्रदेश में औद्योगीकरण फास्ट ट्रैक पर लाने के लिए औद्योगिक इन्फ्रास्ट्रक्चर के सृजन व सुदृढ़ीकरण पर कार्रवाई करनी होगी, जिसके लिए औद्योगिक भूमि और विद्युत की उपलब्धता, सुदृढ़ कानून व्यवस्था व सरकारी विभागों में मित्रतापूर्ण वातावरण और प्रस्तावों पर त्वरित कार्रवाई आवश्यक होगी।

यदि औद्योगिक भूमि की बात करें, तो उसकी कीमतें आसमान छू रही हैं, जिसके कारण उद्यमियों की सीमा के वह बाहर होती जा रही है, मंहगी भूमि को खरीदकर कैसे उद्यमी अपना उद्योग स्थापित करें और लाभ कमायें, यह विचारणीय है। राज्य औद्योगिक विकास निगम भी प्रदेश में आवश्यकता के अनुरूप औद्योगिक भूमि को उपलब्ध नहीं करा पा रहा है, इण्डस्ट्रियल एरिया के प्लॉटों में कालाबाजारी, आवंटन में भ्रष्टाचार, ऊँची दरें व वर्षों तक उनका अनुपयोगी रहना आदि अनेक कारण नये उद्यमियों के लिए औद्योगिक प्लॉटों को लेना कठिन है। नये इण्डस्ट्रियल एरिया विकसित नहीं हो पा रहे हैं। भूमि के अनिवार्य अर्जन पर भी किसानों का विरोध है और सरकार किसानों को भी नाराज नहीं करना चाहती है। यदि उद्योगों के लिए भूमि अर्जित नहीं होगी तो आखिर उद्यमी अपनी इकाईयाँ कहाँ और कैसे स्थापित करेंगे? इस सम्बन्ध में इस नीतिगत निर्णय की आवश्यकता है कि निजी विकासकर्ता भी भूमि को किसानों से सीधा खरीदकर इण्डस्ट्रियल एरिया विकसित करें, जिसके लिए 30प्र0 जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार अधिनियम, 1950 की धारा 154 में निर्धारित 12.5 एकड़ की अधिकतम सीमा विकासकर्ताओं पर लागू नहीं होनी चाहिए, अनुसूचित जाति व जनजातियों की भूमियों के क्रय पर भी धारा 157-ए की रोक नहीं होनी चाहिए, जैसा कि नये रैवेन्यू कोड-2006 में भी प्रस्तावित है जो अभी लागू होना है, राजकीय भूमि के हस्तांतरण में सरलता होनी चाहिए, भूमि के क्रय पर स्टाम्प ड्यूटी भी माफ हो और 30प्र0 नगर नियोजन एवं विकास अधिनियम, 1973 के अंतर्गत कृषि भूमि पर इण्डस्ट्रियल एरिया विकसित करने की अनुमति होनी चाहिए, जिसके लिए भू-उपयोग परिवर्तन शुल्क (लैण्डयूज कन्वर्जन चार्जिज) नहीं लिया जाना चाहिए और मास्टरप्लान के संशोधन की लम्बी प्रक्रिया उसके लिए नहीं होनी चाहिए। लैण्ड पूलिंग की अवधारणा के आधार पर भी इण्डस्ट्रियल एरिया के विकास में किसान सहभागी बनें तो अच्छा है ताकि वे लाभान्वित हों और उन्हें यह न लगे कि उनकी भूमि लेकर सरकार लाभ कमा रही है।

भूमि अर्जन कानून में भी समयानुकूल परिवर्तन आवश्यक है, जिससे न किसान अपने आप को ठगा महसूस करें और न ही भूमि अर्जन की कई गुनी लागत के कारण प्रदेश के औद्योगिक

विकास की गति थम जाये। भूमि अर्जन किसानों के लिए अत्यन्त कठिनाई की घड़ी होती है किन्तु प्रदेश के विकास और इन्फ्रास्ट्रक्चर के सृजन के लिए अनिवार्य भूमि अर्जन एक अपरिहार्य आवश्यकता है, चाहे वह एस.ई. जैड बनाना हो या आई.टी. सिटी बनानी हो। भूमि भी उचित दरों पर उद्यमियों को उपलब्ध करानी होगी, ताकि उद्यमी अंतरराज्यीय व अंतरराष्ट्रीय उद्यमियों से स्वस्थ प्रतिस्पर्धा कर सकें। औद्योगीकरण की दिशा में अच्छी कानून व्यवस्था भी आवश्यक है ताकि उद्यमी अपने आप को नये औद्योगिक क्षेत्रों में सुरक्षित अनुभव करें, जिसके लिए अलग पुलिस व्यवस्था हो, जिसका उद्देश्य औद्योगिक क्षेत्रों में सुरक्षा प्रदान करनी होगी। औद्योगिक क्षेत्रों में होने वाली आपराधिक घटनाओं पर त्वरित कार्रवाई करके उन पर अंकुश लगाया जाना भी आवश्यक होगा।

सरकारी नीतियों में स्थिरता भी उद्यमियों के मध्य विश्वास का माहौल बनाने के लिए आवश्यक है। वर्ष 2006 में उ०प्र० सरकार द्वारा दी गई विभिन्न छूटों के कारण उत्तर प्रदेश में 10-12 हजार करोड़ का विनियोजन हुआ किन्तु वर्ष 2011 में उन छूटों को अप्रत्याशित रूप से समाप्त कर दिया गया, जिसके कारण उद्यमियों को इलाहाबाद उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाना पड़ा। अच्छा हो कि सरकार अपनी नीतियों को दृढ़ता से लागू करे ताकि नये उद्यमी निःसंकोच होकर अपना उद्योग लगायें और सरकारों में परिवर्तन घोषित नीतियों में परिवर्तन का कारण न बनें। मुख्य सचिव के स्तर पर मासिक बैठक हो, जिसमें उद्यमियों को प्रशासनिक स्तर पर आने वाली कठिनाईयों पर गंभीर विचार-मंथन हो सके और उनका कारगर समाधान ढूँढा जा सके। केवल नीतियाँ बनाना ही काफी नहीं अपितु सही कार्यान्वयन आवश्यक होगा। वस्तुतः औद्योगीकरण का मूलमंत्र नीतियों का सही कार्यान्वयन ही सिद्ध होगा। विद्युत के क्षेत्र में भी हमें आमूलचूल परिवर्तन करने होंगे क्योंकि बिना पर्याप्त विद्युत आपूर्ति के उद्योगों का चलाया जाना सम्भव नहीं है। इसके लिए जितनी शीघ्र शुरुआत की जा सके, उतना ही अच्छा होगा। प्रदेश में बड़ी युवाशक्ति है जो कार्य करने के लिए आतुर है, आवश्यकता है तो उसके लिए नये अवसरों को सृजित करने की, जो सुदृढ़, नीतिगत निर्णयों और उसके प्रभावी कार्यान्वयन से सम्भव हो सकेगा और प्रदेश का अग्रणी स्थान बन सकेगा।

डी.एल.ए. में दि० 20.2.2013 को प्रकाशित

प्रकृति के प्रति संवेदनशील हों

हम प्रतिवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय पृथ्वी दिवस (22 अप्रैल) को मनाते हैं और अपने पृथ्वी ग्रह की हरियाली और उसके प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के प्रति प्रायः अपनी चिन्ता व सजगता प्रकट करते हैं लेकिन गौरैया का आंगन में चहकना, तितलियों का बाग में उड़ना, जुगनुओं का रात में चमकना, बरसात में केचुओं का रेंगना और कुओं का जल आखिर कहां अदृश्य हो गया? भूगर्भ का गिरता जलस्तर, पेड़ों और जंगलों की कटाई, सूखती नदियां, बढ़ती गर्मी, अनेक जीवों की समाप्त होती प्रजातियाँ, बढ़ता समुद्र जलस्तर यह सभी प्रकृति के आगामी संकट के हमको संकेतक हैं किन्तु हम मात्र मूकदर्शक बने यह सब कुछ घटित होते देख रहे हैं और यह नहीं समझ पा रहे हैं कि हम अपनी भावी पीढ़ियों को किन-किन प्राकृतिक संकटों को झेलने के लिये धकेल रहे हैं?

पर्यावरण व पृथ्वी ग्रह के प्रति मात्र चिन्ता प्रकट करने या परिचर्या से कुछ समाधान नहीं निकलने वाला है। आवश्यकता यह है कि हम संवेदनशील बनें व शासन और प्रशासन को भी अधिक सक्रिय भूमिका निभाये। उत्तर प्रदेश में कुल भौगोलिक भूमि के सापेक्ष में वनावरण मात्र 5.86 प्रतिशत है जो वृक्षारोपण सहित 9.01 प्रतिशत है जबकि केन्द्र सरकार का लक्ष्य 33 प्रतिशत है। निजी भूमि के भूस्वामी अपनी भूमि पर वृक्षारोपण करने से इस कारण से डरते हैं कि उन्हें भविष्य में वृक्षों को काटने की अनुमति नहीं मिलेगी और वे अपनी भूमि का अन्य उपयोग नहीं कर सकेंगे। निजी भूमि पर वृक्षारोपण को प्रोत्साहित करने के लिये 30प्र0 वृक्षारोपण संरक्षण अधिनियम, 1976 को परिवर्तित किया जाना चाहिये और निजी भूमि के स्वामियों का वृक्षों को काटने की अनुमति होनी चाहिए। नये भवन पर्यावरणीय सिद्धान्तों के अनुसार बने, इस उद्देश्य से ग्रिहा संस्था द्वारा प्रमाणित स्टार रेटिंग के अनुरूप निर्माणकर्ताओं को अतिरिक्त तलक्षेत्र (एफ.ए.आर.) दिया जाना चाहिये। इन भवनों की यह रेटिंग 1 स्टार से 5 स्टार तक होती है और ऐसे भवनों में प्राकृतिक प्रकाश रहता है जो विद्युत को बचाता है व निर्माण प्रक्रिया में भी कम से कम अर्बन फुट प्रिन्ट होते हैं। प्रा तिक संसाधनों का सही प्रबन्धन भी करना होगा तथा पर्यावरण बनाम् विकास के मध्य सन्तुलन बनाना होगा। प्रदेश में विद्युत की कमी को दूर करने के लिए सरकारी भूमियों पर, खादरों व ऊसर भूमियों पर 'सोलर पार्क' निजी सहभागिता के आधार पर बनें जहाँ सौर ऊर्जा से विद्युत उत्पादन हो सके। उपयोग की भूमियों का कम से कम नगरीकरण हो और शहरीकरण का भी पर्यावरण पर कम से कम दबाव पड़े, इसके लिये शहरों में 'वर्टिकल ग्रीथ' को बढ़ावा दिया जाये। प्रदेश की नयी आवास नीति के प्रारूप में अधिक एफ.ए.आर. की नीति के द्वारा शहरी भूमि की कृत्रिम कमी को दूर करने का प्रस्ताव है, जिसे शीघ्र लागू किया जाना चाहिये। प्रदेश में अनेक जनपदों में तेजी से गिरते भूजल स्तर को देखते हुये सरल व जनग्राह्य कानून बनाया जाना चाहिये। भूगर्भ जल विभाग द्वारा भूजल के डाटा को भी प्रचारित-प्रसारित करें ताकि जनजागृति आ सके। हमें नदियों को भी पुनर्जीवित करना होगा। सोलिड वेस्ट प्रबन्धन के उपाय ढूढ़ने होंगे। पर्यावरण हित के लिये नये प्रयोगों के लिये हमें नहीं हिचकना होगा। वर्षा जल का संचयन नदियों के किनारे की निचली भूमियों में करना होगा, जिसका उपयोग वर्षा ऋतु के उपरान्त किया जा सके। अर्जित-भूमि (वैटलेण्ड) की अवधारणा को भी अधिक से अधिक आगे बढ़ाना होगा। पेयजल की उपलब्धता

बढ़ाने के लिए बैराज बनाने ही होंगे, यद्यपि पर्यावरणविद् उससे पूरी तरह सहमत नहीं हैं। वर्षा जल समुद्र में प्रवाहित होकर नष्ट हो जाये उससे बेहतर है कि ऐसे विकल्प तलाशे जायें कि जिनके द्वारा वर्षाजल को बैराज बनाकर रोका जा सके।

यह भी आवश्यक है कि शासन और राज्य स्तर पर भूगर्भ जल नीति बनायी जाये और उसके कार्यान्वयन के लिए विधिक आधार भी प्रदान किया जाये। हम सभी को यह समझना होगा कि एक मीटर से दो मीटर प्रतिवर्ष गिरता हुआ भूगर्भ जलस्तर आने वाले बड़े संकट का निमंत्रण है, जहाँ धरा से सारी हरियाली धीमे-धीमे सूख जायेगी, पशुओं को पीने के लिए पानी नहीं होगा, कमजोर वर्ग के व्यक्ति इस कमी से सबसे अधिक पीड़ित होंगे और बीमारियाँ घर-घर में फैलेंगी। इस नीति में भूजल की री-साईक्लिंग पर विशेष बल दिया जाना चाहिए क्योंकि भूगर्भ से निकाला गया 95 प्रतिशत जल नालियों में व्यर्थ चला जाता है। यदि हम री-साईक्लिंग के द्वारा उस जल को पुनः उपयोग में लायें तो और जल दोहन की आवश्यकता कम हो जायेगी। री-साईक्लिंग जल का उपयोग हरियाली, शौचालय व धुलाई-पुछाई के लिए अनिवार्य होना चाहिए। भूगर्भ जल की कमी वाले क्षेत्रों में कौन-सी फसलें की जाये और उनके लिए कृषकों को कैसे प्रोत्साहित किया जाय, यह भी हमें विचार करना आवश्यक होगा क्योंकि भूगर्भ जल की सबसे बड़ी खपत पीने के लिए अपितु कृषि कार्यों के लिए होती है, बिना इस पक्ष को नीति में सम्मिलित किये वह अधूरी होगी।

वर्षा जल संचयन को भी अनिवार्य बनाना होगा और उसे जनसहभागिता के साथ लागू करना होगा। केवल कागजों पर अनिवार्य बनाने से कोई लाभ न हो सकेगा, जल संचयन के लिए बनाये गये स्ट्रक्चर भी कार्यरत रहने चाहिए और यह नहीं होना चाहिए कि वे बनाये तो गये किन्तु वर्षा जल को रीचार्ज नहीं कर पा रहे हैं। “घर का पानी घर में” और “खेत का पानी खेत में” को हमें चरितार्थ करना होगा। पोखरों और तालाबों को सैटेलाइट इमेजरी के माध्यम से देखते रहना होगा ताकि वे अतिक्रमित न हों। बनायी जाने वाली भूगर्भ जल नीति में आधुनिक तकनीकी व सूचना प्रौद्योगिकी के उपयोग पर भी विशेष बल होना चाहिए। इसके साथ-साथ जन-जागृति और जनसहभागिता भी नीति के मूल मंत्र होने चाहिए। नीति का निर्धारण स्टेक-होल्डर्स के साथ व्यापक विचार-विमर्श के उपरान्त होना चाहिए ताकि नीति जनग्राह्य और व्यवहारिक बन सके।

यह भी दर्पण की भांति स्पष्ट है कि मात्र सरकारी प्रयासों से स्थिति में कदाचित परिवर्तन नहीं हो सकेगा। यह परिवर्तन तब तक नहीं आयेगा जब तक हम स्वयं पर्यावरण के प्रति संवेदनशील नहीं बनेंगे, अपने लोभ को कम नहीं करेंगे और प्रकृति के अविवेकपूर्ण दोहन के स्थान पर उसके प्रति संरक्षण का भाव विकसित नहीं करेंगे। पर्यावरण और इस पृथ्वी की महत्ता को हृदयंगम करना होगा। यह पृथ्वी ग्रह हमारा है और इसे हमें हर कीमत पर बचाये रखना है। हमारे छोटे-छोटे कदम भी भविष्य के लिये निर्णायक सिद्ध हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त नयी पीढ़ी में भी प्रकृति और पृथ्वी प्रेम का सशक्त बीजारोपण करना होगा ताकि वे उदासीन न बनी रहे अपितु सक्रिय भूमिका अदा करे।

हाउसिंग सैक्टर : आवश्यकता है विज़न की

हमारा यह शहरी जीवन कैसा है, जहाँ सिर पर एक छत पाना एक दिवास्वप्न है, नियोजित विकास एक दूर की बात है, अनाधि त निर्माणों की बाढ़ है, जनसंख्या व आवासों के परिप्रेक्ष्य में बुनियादी सुविधायें नाकाफी हैं, सड़कें स्थाई व अस्थायी अतिक्रमणों से पटी पड़ी हैं, एक जगह से दूसरी जगह जाने में ट्रैफिक जाम झेलना पड़ता है, पीने का गन्दा पानी है, जहाँ जायें वहाँ गन्दगी नजर आती है, थोड़ी सी बारिश में सड़कें नदी-नाले बन जाती हैं, नालियों की तो व्यवस्था नाम को है, सीवर व्यवस्था या तो है नहीं या फिर रुकी है और उफन रही है, विद्युत व्यवस्था भी नाकाफी है, अनाधि त निर्माणों का बोलबाला है, पार्किंग के लिए जगह नहीं है, मास्टर प्लान और जोनल प्लान अव्यवहारिक हैं और कागजी शेर हैं। कुल मिलाकर हम “क्वालिटी लिविंग” से कहीं दूर हैं। शहरी भूमि के उचित प्रबन्धन के अभाव में उनके मूल्यों में अप्रत्याशित तेजी है और अफोर्डेबल हाउसिंग दूर की कौड़ी है। अब यह नितान्त आवश्यक है कि शहरी इन्फ्रास्ट्रक्चर और हाउसिंग सैक्टर के संबंध में समग्रता से विचार हो और व्यवहारिक नीति बने जो दृढ़ता और समयबद्धता के साथ लागू हो।

नया रोड नैटवर्क व सुविधायें विकसित हों:

शहर चारों ओर बढ़ रहे हैं लेकिन शहर के विकसित हो रहे नये भाग भी स्लम्स ही नजर आते हैं, जहाँ न चौड़ी सड़कें हैं और न ही ड्रेनेज, सीवरेज या विद्युत की व्यवस्था। बुनियादी सुविधाओं के लिए सबसे पहले हमें उचित रोड नैटवर्क को विकसित करना होगा क्योंकि एक बार यदि संकरी सड़क बन जाती है और उसके दोनों ओर निर्माण हो जाता है तो भविष्य में उसका चौड़ीकरण सम्भव नहीं होता है।

30प्र0 नगर नियोजन एवं विकास अधिनियम, 1973 के अन्तर्गत बनाये जाने वाले मास्टर प्लान व जोनल प्लान में मार्गों को प्रस्तावित किया जाता है जो नियोजित विकास का मुख्य आधार होते हैं किन्तु ऐसे मार्गों की भूमि को भूमि अध्याप्ति अधिनियम, 1894 अथवा करार नियमावली के अन्तर्गत लिया जाना अत्यन्त दुरूह है जो न्यायिक कार्यवाही से भी बाधित हो जाती है। ऐसे प्रस्तावित मार्गों पर अतिक्रमण भी हो जाते हैं जिससे मास्टर प्लान/जोनल प्लान की प्रस्तावना प्रतिकूल रूप से प्रभावित हो जाती है और प्लान बनाने का उद्देश्य विफल होता है। ऐसे मार्गों की भूमि को सुगमता से प्राप्त करने के उद्देश्य से अधिनियम में इस प्रकार का संशोधित किया जाय जिससे मास्टर प्लान व जोनल प्लान के लागू होने की तिथि (धारा 12 की अधिसूचना के प्रकाशन की तिथि) पर मार्गों की भूमि ऑटोमैटिक रूप से प्राधिकरण में निहित/अर्जित मानी जाये तथा प्राधिकरण द्वारा ऐसी निहित/अर्जित भूमि का प्रतिकर जिलाधिकारी द्वारा स्टाम्प अधिनियम के अन्तर्गत निर्धारित दरों पर दिया जाय अथवा विकल्प में मार्ग की अर्जित भूमि के समकक्ष अनुमन्य कम्पैनसेटरी एफ.ए.आर. या ट्रास्फेरेबल डेवलेपमेन्ट राइट (टी.डी.आर.) के रूप में दिया जाये। ऐसी कानूनी व्यवस्था से मास्टर प्लान व जोनल प्लान की भूमियाँ उपलब्ध हो सकेंगी और सड़क बन सकेंगी।

प्राधिकरणों द्वारा ड्रेनेज व्यवस्था, पार्क, मण्डी स्थल आदि को विकसित करने के लिए भी अधिनियम की धारा 33 का प्रयोग करते हुए सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। बुनियादी सुविधाओं

के नियोजन एवं समयबद्ध/चरणबद्ध विकास एवं कार्यान्वयन हेतु लघुकालीन, मध्यकालीन, व दीर्घकालीन योजना बनानी होगी।

ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 के भवनों की कमी दूर हो:

यह सर्वविदित तथ्य है कि हाउसिंग स्टॉक की सबसे अधिक कमी आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग (ई0डब्ल्यू0एस0) व निम्न आय वर्ग (एल0आई0जी0) के लिए है, जैसा कि राष्ट्रीय आवास एवं पर्यावास नीति, 2007 एवं उ0प्र0 आवास नीति, 2012 (प्रारूप) से स्पष्ट है। केन्द्र व राज्य सरकार इस कमी को दूर करने के लिए प्रयासरत हैं किन्तु आक्रामक नीति के अभाव में कमी ज्यों की त्यों बनी हुई है। 3000 वर्गमीटर से अधिक क्षेत्र की सभी निजी योजनाओं में ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 की अनिवार्यता तो कर दी गई है, किन्तु प्रदेश सरकार की बनाई गई नीति भवन निर्माणकर्ताओं को स्वीकार नहीं है। इस संबंध में आन्ध्र प्रदेश सरकार की नीति अधिक व्यवहारिक है, जहाँ शैल्टर-फी निर्माणकर्ताओं से ली जाती है, जिससे ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 की इकाईयों के निर्माण के संसाधन जुटाये जाते हैं। नीति को व्यवहारिक बनाना होगा ताकि निजी निर्माणकर्ता स्वतः आगे बढ़कर ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 इकाईयों का निर्माण करें।

इसके साथ-साथ सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 के व्यक्तियों को रोजगार शहरों में ही मिलता है और यदि हम उनके लिए आवास शहर से दूर बनाते हैं, तो उनके लिए रोजगार की समस्या उत्पन्न हो जाती है और शहर के मध्य भूमियों की कीमत इतनी अधिक है कि कोई भी निर्माणकर्ता ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 के भवनों या इकाईयों के निर्माण की सोच भी नहीं सकता है। इस समस्या के समाधान के लिए हमें ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 की योजनाओं के साथ ट्रांसपोर्टेशन को अभिन्न अंग बनाना होगा। जब तक वे आसानी से आ-जा नहीं सकेंगे तब तक शहर से दूर बनी ई0डब्ल्यू0एस0 व एल0आई0जी0 की योजनाएँ लोकप्रिय नहीं हो सकेंगी। निर्विवाद रूप से गरीबों को भी आवास उपलब्ध कराना हमारा सामाजिक दायित्व है और क्यों न शासन ऐसी योजनाओं को बनाने वाले विकासकर्ताओं को वैट, विकास शुल्क, प्रभाव शुल्क, निरीक्षण शुल्क आदि मांगों से मुक्त कर दे ताकि वे कम कीमत पर मकान उपलब्ध करा सकें।

स्लम री-डवलपमेण्ट योजनायें बनें:

प्रदेश के सभी शहरों के बीच में झुग्गी झोंपड़ी होना आम बात है, जहाँ सुविधाओं के अभाव में रहने वाले बच्चों और बड़ों के स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है। वे बीमारियों के शिकार होते हैं। ऐसी झुग्गी झोंपड़ियों को हटाना या तोड़ना भी वर्तमान परिदृश्य में सम्भव नहीं है, अतः क्यों न हम नई सोच के साथ स्लम री-डवलपमेण्ट की योजनाओं को आगे बढ़ायें, जिसके अंतर्गत 8-10 मंजिले भवन बनाकर "वर्टिकल ग्रोथ" से शहरों को झुग्गी झोंपड़ी से मुक्त कराने का अभियान चलायें। मुम्बई में भी इस प्रकार की सोच का सफल प्रयोग किया गया है। यह ठीक है कि स्लम की भूमि के संबंध में मालिकाना हक संबंधी विवाद भी हो सकते हैं लेकिन समाधान ढूंढने के लिए ऐसे विवादों के समाधान के लिए हमें रचनात्मक रूप से सोचना होगा क्योंकि यदि हम झुग्गी झोंपड़ी को तोड़ या हटा नहीं सकते हैं क्यों न इस सच्चाई को स्वीकार करें और झुग्गी झोंपड़ी के स्थान पर

बहुमंजिली इमारत बनाकर गरीब व्यक्तियों को भी रहने के लिए एक अच्छा मौका दे सकें। ऐसे भवनों को बनाने में जो अतिरिक्त एफ.ए.आर. या स्थान मिलेगा, उससे ऐसी स्लम री-डवलपमेण्ट योजनाओं के लिए वित्तीय संसाधन सुगमता से जुटाये जा सकते हैं। ऐसी योजना बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए सरल व पारदर्शी कानून भी हमें यथाशीघ्र बनाना चाहिए जो आवास नीति का आवश्यक पक्ष बने।

मिशन ट्रान्सपेरेंसी लागू हो:

हाउसिंग सैक्टर भ्रष्टाचार से पीड़ित है, जिसमें अधिकतम पारदर्शिता लाया जाना आवश्यक है और इस प्रयोजन से “मिशन ट्रान्सपेरेंसी” को प्रदेश की आवास नीति का अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए। इसके अंतर्गत जो भी भवन मानचित्र प्राधिकरण द्वारा स्वीकृत हों, उनकी स्कैन्ड कॉपी व मानचित्र से सम्बन्धित समस्त अनापत्ति प्रमाण-पत्र व टाइटिल डीड भी प्राधिकरण की वैबसाइट पर अपलोड होने चाहिए ताकि निर्मित भवन अथवा अपार्टमेण्ट के भावी क्रेतागण वस्तुस्थिति से वाकिफ़ हो सकें और उन्हें यह मालूम हो सके कि उनके द्वारा क्रय किये जाने वाला भवन अथवा अपार्टमेण्ट प्राधिकरण से विधिवत् स्वीकृत है अथवा नहीं, पार्किंग उचित रूप से छोड़ी गयी है अथवा नहीं, प्राधिकरण का प्रवर्तन विभाग भी निर्माणाधीन भवनों को मॉनीटर कर सकेगा और इस मिशन ट्रान्सपेरेंसी से नियोजित एवं व्यवस्थित विकास को बढ़ावा मिलेगा। डाटा डिजिटलाईजेशन व वैबसाइट पर उनकी उपलब्धता “चैक एण्ड बैलेन्स” के रूप में भी कार्य करेगी। प्राधिकरण क्षेत्र में आने वाली भूमि के भू-उपयोगों के संबंध में समस्त सूचनाएँ वैबसाइट पर भी उपलब्ध होनी चाहिए ताकि उनके भू-स्वामी को उसके संबंध में सूचना आसानी से प्राप्त हो सके। कुल मिलाकर सभी सूचनायें “पब्लिक डोमेन” में होनी चाहिए ताकि “सैल्फ रैग्युलेटरी” व्यवस्था विकसित हो।

नीति निर्धारण की प्रक्रिया में सभी स्टैक होल्डर्स को सम्मिलित करना चाहिए, उनसे समय-समय पर परामर्श और सुझाव लेने चाहिए व नीति व निर्णयों की प्रक्रिया में जनसहभागिता (यथा विशेषज्ञों आदि को बोर्ड बैठकों में आमंत्रित करना) सुनिश्चित करनी चाहिए।

लैण्ड पूलिंग विकास का आधार बने:

वर्तमान परिस्थितियों में विकास प्राधिकरणों द्वारा भूमि का अधिग्रहण करना एक बड़ी चुनौती है। नियोजित विकास की दिशा में लैण्डपूलिंग के विकल्प को हमें गुजरात और महाराष्ट्र की तरह अपनाना होगा जो प्रदेश के हाउसिंग सैक्टर व औद्योगिक परिदृश्य में आशातीत परिवर्तन ला सकेगा। प्राधिकरणों को भी लैण्ड पूलिंग के माध्यम से नयी योजनाओं में विकास कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा। विकसित नगरीय भूमि की भी उपलब्धता बढ़ेगी जो भूमि के मूल्यों पर भी अंकुश लगा सकेगी और नियोजित विकास की दिश में एक बड़ा कदम होगा। राज्य सरकार द्वारा इस उद्देश्य से कानून का मसौदा बना लिया गया है किन्तु उसे अमलीजामा नहीं पहनाया जा सका है।

नियमों की सरलता हो:

30प्र0 नगर नियोजन एवं विकास अधिनियम, 1973 की धारा 15 के अन्तर्गत भवन उपविधियों के अनुसार मानचित्र स्वीकृत किये जाते हैं। अतिरिक्त निर्माण या निर्माण में परिवर्तन करने पर विकास प्राधिकरण अपराधों की शमन उपविधि, 2009 के अनुरूप निर्धारित सीमाओं तक कम्पाउण्डेबिल है किन्तु यह कम्पाउण्डिंग निर्माण किये जाने के उपरान्त की जाती है। क्यों न कम्पाउण्डिंग की सीमा तक अतिरिक्त निर्माण मानचित्र स्वीकृति के समय ही अनुमन्य हो।

यह भी एक अच्छा सुझाव होगा कि भवन एवं निर्माण उपविधियों को प्रत्येक दो वर्ष के अन्तराल पर अनिवार्यतः रिवाइज़ करना चाहिए ताकि वे जनअपेक्षाओं के अनुरूप व व्यावहारिक बन सकें। ऐसे रिवाइज़न की प्रक्रिया में स्टेकहोल्डर्स को सम्मिलित करना चाहिए जिनके सुझाव व आपत्तियों पर विचार करना चाहिए।

निजी भूमि के सम्बन्ध में बनाये जाने वाले मास्टर प्लान व जोनल प्लान में लचीलापन होना चाहिए ताकि उसके भू-स्वामी उसका उपयोग क्षेत्र की आवश्यकता और मांग के अनुरूप कर सकें। मास्टर प्लान व जोनल प्लान में भू-उपयोगों का अत्यधिक चिन्हांकन एवं प्रतिबन्ध अनावश्यक रूप से अनाधिकृत निर्माणों को बढ़ावा ही देता है जबकि उनका लचीलापन व्यवहारिक आवश्यकता है। यह भी जरूरी है कि जो मास्टर प्लान व जोनल प्लान बनाये जायें उनकी समीक्षा भी निर्धारित समयावधि के उपरान्त की जाये ताकि आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी समय-समय पर हो सकें।

कॉलोनियों में आर0डब्ल्यू0ए0 अनिवार्य हो:

प्रत्येक कॉलोनी के लिए यह अनिवार्य होना चाहिए कि विकासकर्ता द्वारा प्लॉट होल्डरों की रेजीडेण्ट वेल्फेयर एसोशियेशन (आर.डब्ल्यू.ए.) बनायी जाये जो शासन द्वारा निर्धारित मॉडल बाइलॉज़ के अन्तर्गत कार्य करे, जैसा कि अपार्टमेण्ट अधिनियम के अन्तर्गत अपार्टमेण्ट धारकों के लिये शासन द्वारा बनाई गयी है। निजी कॉलोनियों में जनसुविधायें जैसे-जलापूर्ति, सफाई, पार्क व सड़कों का रख-रखाव आदि आर0डब्ल्यू0ए0 करे। यदि निजी कॉलोनी, नगर निगम की सीमा में स्थित नहीं है वहां कॉलोनी के विकासोपरान्त जनसुविधाओं को आर.डब्ल्यू.ए. को हस्तान्तरित करने की अनिवार्यता होगी ताकि उनका संरक्षण सुनिश्चित हो सके।

अनाधिकृत निर्माणों पर प्रभावी रोक होनी चाहिए:

अनाधिकृत निर्माण सभी दृष्टि से हानिकारक हैं और शहर के सभी लोग उससे पीड़ित होते हैं। अब यह आवश्यक है कि अनाधिकृत निर्माणों को रोकने के लिये हम नई व आधुनिक तकनीक का उपयोग करें जिसके लिए सैटेलाइट इमेजरी का उपयोग प्रभावी हो सकता है, जैसा कि पंजाब के अनेक शहरों में इस तकनीक को अपनाया जा रहा है, जिसके अंतर्गत 'बेस डेट' की सैटेलाइट इमेजरी को आधार बनाकर प्रत्येक तीन या छः माह के अन्तराल पर पुनः ली गई सैटेलाइट इमेजरी से तुलना कर यह मालूम किया जाता है कि कहां-कहां व कौन-कौन से निर्माण हुये हैं ताकि उसके आधार पर अनाधिकृत निर्माणों को चिन्हित कर उन पर अंकुश लगाया जा सके। प्राधिकरणों के बड़े

विकास क्षेत्रों के सापेक्ष में संसाधनों की बहुत कमी है, इस दृष्टि से भी सैटेलाइट इमेजरी की तकनीक लाभप्रद सिद्ध होगी।

भवन मानचित्रों को निर्धारित समयावधि में स्वीकृति करने के लिए यह भी एक अच्छा कदम होगा कि मानचित्र स्वीकृति की सेवा को 30प्र0 जनहित गारण्टी अधिनियम, 2011 (30प्र0 अधिनियम संख्या 3 वर्ष 2011) की धारा 3 के अंतर्गत नोटिफाई कर दी जाय एवं उसकी समय-सीमा निर्धारित कर दी जाय। प्राधिकरणों से संबंधित सिटीज़न चार्टर की अन्य सेवाओं को भी उक्त अधिनियम के अंतर्गत नोटिफाई कर समयसीमा में सेवा प्रदान करने की आवश्यकता को विधिक आधार प्रदान किया जाये।

पर्यावरण मित्रवत् निर्माण हों:

पर्यावरण है तो हम हैं। निर्माणकर्ताओं द्वारा भी ग्रीन-बिल्डिंग बनायी जायें, इस दृष्टि से उन्हें ऐसे निर्माणों को प्रोत्साहित करने हेतु 5 प्रतिशत से 10 प्रतिशत तक अतिरिक्त एफ0ए0आर0 निःशुल्क प्रदान किया जाना चाहिए जिसके लिए भवन उपविधियों में परिवर्तन किया जाना चाहिए। नोएडा में भी इस प्रकार का अतिरिक्त एफ0ए0आर0 निर्माणकर्ताओं को प्रोत्साहन के रूप में दिया जाता है। ग्रुप हाउसिंग, कॉलोनियों व व्यवसायिक भवनों में 'वेस्ट-वॉटर' का रीसाईक्लिंग द्वारा पुनःउपयोग को अनिवार्य किया जाना चाहिए, ताकि भू-गर्भीय जल पर कम-से-कम दबाव रहे एवं ज़ीरो-डिस्चार्ज से प्रभावी जल-प्रबन्धन सुनिश्चित हो। शहरी क्षेत्रों में हरियाली वृद्धि हेतु निश्चित अंतरालों पर क्षेत्रवार वृक्षों की गणना होनी चाहिए और हरियाली बढ़ाने के लिए जनसहभागिता से समुचित कार्ययोजना बनाई व कार्यान्वित की जानी चाहिए।

समय रहते हमें अपनी नीतियों और सोच में परिवर्तन लाना होगा ताकि हम अपनी आने वाली पीढ़ियों को एक बेहतर शहर और रहने की जगह दे सकें और वह हमारे लालच या सोच के अभाव को न कोसें।

